विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम रायपुर

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूबर – नवम्बर – दिसम्बर

★ १९७२ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी प्रणवानन्द

वार्षिक ४)
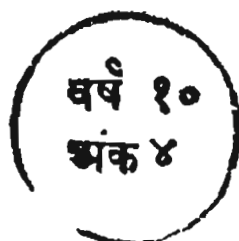
एक प्रति १)

फोन : १०४६

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर (मध्यप्रदेश)

अनुक्रमणिका

—:०:—

कव्हर चित्र परिचय — स्वामी विवेकानन्द

(कुस्तुन्तुनिया में, नवम्बर, १९०० ई०)

मुद्रण स्थल : नरकेसरी प्रेस, रायपुर (म. प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

वर्ष १०] अक्तूबर – नवम्बर – दिसम्बर [अंक ४

वार्षिक शुल्क ४) ★ १९७२ ★ एक प्रति का १)

मूढ़, विद्वान् और विवेकी

देहोऽहमित्येव जडस्य बुद्धि-
देहे च जीवे विदुषस्त्वहंधीः।
विवेकविज्ञानवतो महात्मनो
ब्रह्माहमित्येव मतिः सदात्मनि ॥

-- मूढ़ सोचता है कि मैं शरीर हूँ। विद्वान् अपने को शरीर और जीव का सयोग मानता है। किन्तु अनुभूतिसम्पन्न विवेकी महात्मा शाश्वत आत्मतत्त्व को अपना आप समझता है और 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी उसकी धारणा होती है।

-- विवेकचूड़ामणि, १६०।

जैसी मति वैसी गति

एक जादूगर था। वह लोगों की नजर बाँधकर पैसा कमाता और अपने परिवार की उदर-पूर्ति करता। धीरे धीरे उसका नाम बढ़ने लगा। वहाँ के राजा के कानों में भी उसके जादू के करिश्मों की तारीफ गयी। राजा ने उसके करिश्मे देखने चाहे। जादूगर बुलाया गया और वह दरबार में अपने खेल दिखाने लगा।

बीच बीच में जादूगर चिल्ला उठता–"आ जा जादू, आ जा माया ! देखो मेरा जादू, देखो मेरी माया ! राजा ! जादू देखो, मुझे पैसे दो ! कपड़े-लत्ते दो !" ऐसा कहते कहते अचानक उसकी जीभ उलट गयी और तालू के नीचे फँस गयी। उसे कुम्भक लग गया। वह न कुछ बोल सकता था, न आवाज कर सकता था। वह एकदम निःस्पन्द हो गया। लोगों ने सोचा कि वह मर गया है। राजा ने जमीन के नीचे ईटों की एक छोटी कोठरी-सी बनवा दी जिसमें जादूगर को उसी अवस्था में दफना दिया गया।

हजार साल बीत गये। किसी ने खुदाई करते समय उस कोठरी को देखा। वह गाँव के लोगों को बुला लाया। सबने मिलकर उस कोठरी को धीरे से खोदा तो अचम्भे में भरकर देखा कि वहाँ एक आदमी समाधि में बैठा हुआ है। लोगों ने समझा कि यह एक बड़ा महात्मा है। वे उसकी पूजा करने लगे। वे उसे जगाने के लिए हिलाने

लगे। धक्के से जादूगर की जीभ कुछ ढीली हुई और उलटकर सीधी हो गयी। उसका कुम्भक टूट गया और वह होश में आ गया। होश में आते ही वह हजार बरस पहले के समान चिल्लाकर कहने लगा--"आ जा जादू, आ जा माया! देखो मेरा जादू, देखो मेरी माया! राजा! जादू देखो, मुझे पैसे दो! कपड़े-लत्ते दो!"

ईश्वर कल्पतरु हैं। उनसे जो माँगोगे, अवश्य पाओगे। पर कल्पतरु के पास खड़े रहकर माँगना होगा। तभी तुम्हारी प्रार्थना वे सुनेंगे। पर एक दूसरी बात भी तुम्हें ध्यान में रखनी चाहिए। ईश्वर अन्तर्यामी हैं। वे जान लेते हैं कि मन के कोने में कौनसी कामना छिपी है। साधना करते समय मनुष्य के मन में जो वासना रहती है, उसकी पूर्ति होती है। इसलिए साधक को सावधान रहना चाहिए। देखो न, एक हजार साल का कुम्भक लगाकर भी जादूगर जैसा का तैसा रहा। उसकी वासना पैसे और कपड़े-लत्ते की थी। अतएव हजार साल बाद होश आने पर भी उसकी वही वासना प्रकट हुई। कहा भी तो है--'जैसी मति वैसी गति'।

*

> कोई शक्ति उत्पन्न नहीं की जाती, फिर भी उसको ठीक-ठीक रास्ते में लगाया जा सकता है। इसलिए जो अद्‌भुत शक्तियाँ हम लोगों के हाथ में हैं उनको वश में करना हमें सीखना है और तत्पश्चात् प्रबल इच्छा-शक्ति द्वारा इस शक्ति को पशुशक्ति न होने देकर देवभय बना देना है। इसी से मालूम पड़ता है कि पवित्रता ही समस्त धर्म और नीति की भित्ति है। --स्वामी विवेकानन्द

मन और उसका निग्रह

स्वामी बुधानन्द

(गतांक से आगे)

५ मन का स्वभाव : हिन्दू दृष्टिकोण

मन:संयम की इच्छा ही पर्याप्त नहीं है। हमें मन के स्वभाव के सम्बन्ध में भी कुछ ज्ञान रखना चाहिये। हम हिन्दू-मनोविज्ञान के आलोक में इस पर संक्षेप में विचार करेंगे, क्योंकि उसमें प्राचीन काल से मनोनिग्रह के लिये पर्याप्त साधना-प्रणालियाँ वर्णित हैं। हिन्दू मनोविज्ञान को विज्ञान की श्रेणी में रखा जाता है, क्योंकि उसने समुचित प्रयोगों और जाँच-पड़ताल के द्वारा मन के पूर्ण निग्रह के लिये तरीके खोज निकाले हैं, जिनका अवसान अन्त में जाकर पूर्णता या ज्ञान की प्राप्ति में होता है। स्वामी विवेकानन्द ने 'विवेकानन्द साहित्य' में हिन्दू-मनोविज्ञान की जैसी व्याख्या की है, वही हमारे प्रस्तुत विचार का आधार है।

हमारे इस स्थूल शरीर के भीतर एक सूक्ष्म शरीर है। उसी को हम मन कहते हैं। यह स्थूल शरीर मानो मन की बाहरी परत है। मन शरीर का सूक्ष्म अंश होने के कारण दोनों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि शरीर का रोग बहुधा मन को प्रभावित कर देता है और मानसिक अस्वस्थता या तनाव शरीर को रुग्ण बना देता है।

मन के पीछे आत्मा है। यही मनुष्य का यथार्थ स्वरूप है। शरीर और मन दोनों जड़ हैं; आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। मन आत्मा नहीं है, वह आत्मा से सम्पूर्णत: भिन्न है।

यदि विज्ञान की एक उपमा लें, तो कहेंगे कि जड़-पदार्थ और मन में अन्तर केवल कम्पन की गति में है। मन जब धीमी गति से कम्पनशील होता है, तो उसे जड़-पदार्थ कहते हैं। जड़पदार्थ जब तीव्र गति से कम्पनशील होता है, तब उसे मन कहकर पुकारते हैं। जड़पदार्थ और मन दोनों देश, काल और निमित्त के नियमों द्वारा समान रूप से नियंत्रित होते हैं।

जड़पदार्थ को मन में परिवर्तित किया जा सकता है, भले ही हमने इसका प्रत्यक्ष अनुभव न किया हो। उदाहरण के लिये, एक ऐसे व्यक्ति को लो जिसने एक पखवाड़े से कुछ खाया ही नहीं है। उस पर क्या प्रतिक्रिया होती है? उसका केवल शरीर ही दुर्बल नहीं पड़ता, प्रत्युत उसका मन भी रीता-सा हो जाता है। यदि वह कुछ और अधिक दिन उपवास करे, तो वह सोच भी नहीं सकता, वह अपने नाम का स्मरण भी नहीं कर सकता। जब वह फिर से अन्न लेना शुरू करता है, तो धीरे धीरे उसके शरीर में ताकत आती है और उसकी स्मृति-शक्ति कार्य करने लगती है। अतएव यह स्पष्ट है कि वह अन्न ही, जो जड़पदार्थ है, मन बना करता है।

हम छान्दोग्य उपनिषद् (६।६-७) में उद्दालक को

अपने पुत्र श्वेतकेतु को प्रयोग के माध्यम से यह उपदेश देते हुए पाते हैं कि अन्न कैसे मन बनता है। वहाँ के दो अध्याय अन्य प्रासंगिक उपदेशों के साथ इस प्रकार हैं——

'हे सोम्य ! मथे जाते हुए दही का जो सूक्ष्म भाग होता है, वह ऊपर इकट्ठा हो जाता है; वह घृत होता है। उसी प्रकार हे सोम्य! खाये हुए अन्न का जो सूक्ष्म अंश होता है, वह सम्यक् प्रकार से ऊपर आ जाता है; वह मन होता है। हे सोम्य! पीये हुए जल का जो सूक्ष्म भाग होता है, वह इकट्ठा होकर ऊपर आ जाता है; वह प्राण होता है। हे सोम्य! भक्षण किये हुए तेज का जो सूक्ष्म भाग होता है, वह इकट्ठा होकर ऊपर आ जाता है और वह वाणी होता है। इस प्रकार हे सोम्य! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाणी तेजोमयी है।'

इस पर पुत्र आरुणि ने कहा 'भगवन्! मुझे फिर समझाइये।'

'ठीक है, सोम्य! सुनो, पुरुष सोलह कलाओं वाला है। तू पन्द्रह दिन भोजन मत कर, केवल यथेच्छ जल ग्रहण कर। प्राण जलमय है, इसलिये जल पीते रहने से उसका नाश नहीं होगा।'

श्वेतकेतु ने पन्द्रह दिन भोजन नहीं किया। तत्पश्चात् वह अपने पिता के पास आया और बोला, 'भगवन्! क्या बोलूँ?'

पिता बोले, 'हे सोम्य! ऋक्, यजु: और साम का पाठ करो।'

वह बोला, 'भगवन्! मुझे उनका स्मरण नहीं आ रहा है।' (उसकी स्मृति क्षीण हो गयी।)

तब पिता उससे बोले, 'हे सोम्य! जैसे ईंधन से धधकती अग्नि का यदि जुगनू के बराबर एक छोटासा अंगारा रह जाय, तो वह उससे अधिक दाह नहीं कर सकता, उसी प्रकार हे सोम्य! तेरी सोलह कलाओं में से केवल एक कला रह गयी है, इसलिये उस एक के द्वारा तू वेदों का स्मरण नहीं कर पा रहा है। अच्छा अब जा, भोजन कर; तब तू मेरी बात समझ जायगा।'

श्वेतकेतु ने भोजन किया और पिता के पास आया। फिर पिता ने जो कुछ पूछा, वह सब उसके मन के सामने उपस्थित हो गया।

तब पिता उससे बोले, 'हे सोम्य! जैसे ईंधन से धधकती अग्नि का यदि जुगनू के बराबर एक छोटासा अंगारा रह जाय और उसे तृण से सम्पन्न कर प्रज्वलित कर दिया जाय, तो वह अपने पूर्व परिमाण की अपेक्षा भी अधिक दाह कर सकता है। इसी प्रकार हे सोम्य! तेरी सोलह कलाओं में से एक कला अवशिष्ट रह गयी थी। वह अन्न के द्वारा प्रज्वलित कर दी गयी। अब उसी से तू वेदों का स्मरण कर रहा है। अतः हे सोम्य! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाक् तेजोमयी है।'

तब तो वह पिता के कथन को समझ गया; हाँ, अच्छी तरह समझ गया!

जिन लोगों को इस उपदेश में संशय हो, वे पन्द्रह दिन तक निराहार रहें, केवल जल ग्रहण करें और देखें कि उनके मन को क्या होता है!

वस्तुतः मनुष्य आत्मा है, वह मन नहीं। आत्मा नित्यमुक्त, अनन्त और शाश्वत है। वह शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। मनुष्य में स्वतंत्र कर्ता मन नहीं, आत्मा है। मन तो मानो आत्मा के हाथों एक यंत्र है, जिसके द्वारा आत्मा बाह्य जगत् का अनुभव और ग्रहण करता है।

यह यंत्र जिसके द्वारा आत्मा बाह्य जगत् के सम्पर्क में आता है, अपने आप में सतत परिवर्तनशील और अस्थिर है। जब इस अस्थिर यंत्र को स्थिर और निश्चंचल बनाया जाता है, तो वह आत्मा को प्रतिबिम्बित कर सकता है।

भले ही मन एक स्वतंत्र कर्ता नहीं है, तथापि उसकी शक्तियाँ अकल्पनीय हैं। यदि मनुष्य ने अदृश्य अणु को तोड़कर उसकी ऊर्जा ो प्रकट किया है, यदि मनुष्य न देखे गये आत्मा का अनुभव कर ज्ञानालोक से उद्भासित हो गया है, तो उसने मन की शक्तियों के सहारे ही यह सब किया है। उपलब्धि के इन दो ध्रुवों के बीच मानव ने विभिन्न क्षेत्रों में अन्य जो भी उपलब्धियाँ की हैं, वे सभी मन की शक्तियों के द्वारा ही सम्भव हुई हैं। वास्तव में मन सर्वव्यापी है। प्रत्येक मन विश्व-मन का एक अंश है। प्रत्येक मन हर दूसरे मन के साथ सम्बन्धित है। अतएव प्रत्येक मन को, वह चाहे कहीं भी हो, सम्पूर्ण विश्व के साथ सम्बन्धित किया जा सकता है।

कठोपनिषद् (२।२।१५) कहता है— 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'— 'उसके प्रकाशमान होते हुए ही सब कुछ प्रकाशित होता है। उसके प्रकाश से ही यह सब कुछ भासता है।' मन-सम्बन्धी हिन्दू-दृष्टिकोण को समझने के लिए इस गम्भीर उपदेश का ध्यान रखना चाहिए। वह ब्रह्म, वह शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमात्मा ही समस्त प्रकाश का उद्गम है। जिसे हम आत्मा कहते हैं— जो प्राणियों में बोध के रूप से प्रकट होता है, वह शुद्ध चेतना की आभा ही सर्वदा समस्त वस्तुओं को अभिव्यक्त करती है।

सूक्ष्म जड़-परमाणु से बना यह पारदर्शी मन आत्मा के सबसे निकट है; वह इस बोधस्वरूप आत्मा का अन्तःकरण

यानी भीतरी यंत्र है। वह प्रकाश का उत्स नहीं है। मन में अपने आप में कोई चेतना नहीं है। वह बोधस्वरूप आत्मा से, जिसका कि वह भीतरी यंत्र है, चेतना की आभा ग्रहण करता है और सबको उद्भासित करता है। यहाँ तक कि भौतिक प्रकाश भी इसी प्रकार मन के माध्यम से प्रकाशमान होता है। अपना स्वयं का कोई प्रकाश न होते हुए भी मन प्रकाशमान प्रतीत होता है। भले ही लगता है कि मन में ज्ञान की क्रिया होती है, पर वह ज्ञानात्मक नहीं है, वह तो ज्ञान का करण अर्थात् साधन मात्र है। चेतना से उधार लिये गये आलोक से प्रकाशमान होने के बावजूद मन ज्ञान का सक्षम साधन है।

हम अपने स्वयं के अनुभव से यह कई प्रकार से जान सकते हैं कि इन्द्रियों और शरीर से पृथक् एक मन है। अपनी पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच ज्ञानेन्द्रियों की सहायता बिना लिये ही हम विचार, अनुभव, इच्छाशक्ति, कल्पना, स्मरण, हर्ष और विषाद की क्रियाएँ कर सकते हैं; इसी से यह प्रमाणित होता है कि इन्द्रियों से पृथक् एक भीतरी यंत्र है, जिसके कारण उपर्युक्त क्रियाएँ सम्भव होती हैं।

जो संशय करते हैं कि मन एक पृथक् भीतरी यंत्र है या नहीं, उन्हें कायल करने के लिए बृहदारण्यक उपनिषद् (१।५।३) निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करता है——

'मेरा मन अन्यत्र था, इसलिए मैंने नहीं देखा; मेरा मन अन्यत्र

था, इसलिए मैंने नहीं सुना' (मनुष्य ऐसा जो कहता है, इसी से निश्चय होता है कि) वह मन से ही देखता है और मन से ही सुनता है। काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति (धारणा-शक्ति), अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय--- ये सब मन ही हैं। पीछे से स्पर्श किये जाने पर भी मनुष्य मन से जान लेता है। अतएव (मन है)।'

मन में अपने आपको देखने की क्षमता है। मन की सहायता से हम मन का विश्लेषण कर सकते हैं और देख सकते हैं कि मन में क्या चल रहा है।

हिन्दू-विश्लेषण के अनुसार मन के तीन उपादान हैं, तीन स्तर हैं, चार प्रकार की क्रियाएँ हैं और पाँच अवस्थाएँ हैं। हम अत्यन्त संक्षेप में इनकी चर्चा करेंगे।

हम मन को हरदम एक ही प्रकार की स्थिति में क्यों नहीं पाते ? कारण यह है कि मन सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से बना है। ये गुण सम्पूर्ण भौतिक और मानसिक विश्व के भी आधारभूत उपादान हैं। सत्त्व सन्तुलन का, स्थैर्य का तत्त्व है जो पावित्र्य, ज्ञान और आनन्द को जन्म देता है। रज गति का तत्त्व है और उससे क्रियाशीलता, काम और चांचल्य की उत्पत्ति होती है। तम जड़ता का तत्त्व है और उससे निष्क्रियता, अवसाद और भ्रम उत्पन्न होते हैं। तमोगुण मन को निम्न स्तर पर परिचालित करता है; रजोगुण मन को बिखेरकर चंचल बना देता है और सत्त्वगुण उसे एक उच्चतर दिशा प्रदान करता है।

गुणों की व्याख्या करना सहज नहीं है। अतएव

विद्यारण्य पंचदशी में (२।१४-१६) उनके कार्यों को देखकर उनकी व्याख्या करते हैं—

वैराग्यं क्षान्तिरौदार्यमित्याद्याः सत्त्वसम्भवाः ।
कामक्रोधौ लोभयत्नावित्याद्या रजसोत्थिताः ।
आलस्य भ्रान्तितन्द्राद्या विकारास्तमसोत्थिताः ।
सात्त्विकैः पुण्यनिष्पत्तिः पापोत्पत्तिश्च राजसैः ।
तामसैर्नोभयं किन्तु वृथायुःक्षपण भवेत् ।

—'सत्त्वगुण से वैराग्य, क्षमा, उदारता आदि और रजोगुण से काम, क्रोध, लोभ, यत्न आदि उत्पन्न होते हैं। आलस्य भ्रम और तन्द्रा आदि विकार तमोगुण से होते हैं। मन में सत्त्वगुण के कार्य से पुण्य की और रजोगुण के कार्य से पाप की उत्पत्ति होती है। और जब तमोगुण का कार्य होता है तब न पुण्य होता है, न पाप, किन्तु वृथा ही आयु का नाश होता है।'

प्रत्येक मन की गठन हर दूसरे मन की गठन से भिन्न होती है। यह गठन गुणों के विभिन्न मात्राओं में पारस्परिक मिलन पर निर्भर करती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मानव-स्वभाव इतना वैचित्र्यपूर्ण क्यों है तथा इससे मन की अस्थिरता की भी व्याख्या हो जाती है।

हम बहुधा कहते हैं—'मैंने अपना मन बदल दिया है।' यदि मन केवल एक ही मौलिक शक्तितत्त्व से बना होता, तो मन को बदलना सम्भव न हो पाता। तब तो मनुष्य न तो गिर सकता, न उठ सकता जो जैसा पैदा हुआ, उसी प्रकार बना रहता।

हम चेतन और अवचेतन इन दोनों शब्दों से परिचित

हैं। ये उन विभिन्न स्तरों को सूचित करते हैं जिनमें मन क्रियाशील होता है। चेतन-स्तर पर सभी क्रियाएँ सामान्यतः अहं-भाव से युक्त होती हैं। अवचेतन-स्तर पर अहंकार की भावना लुप्त रहती है।

एक इससे भी ऊँचा स्तर है, जिस पर मन कार्य कर सकता है। मन सापेक्ष चेतना के भी ऊपर जा सकता है। जैसे अवचेतन का स्तर चेतन के नीचे है, उसी प्रकार इस सापेक्ष चेतन के ऊपर भी एक स्तर है। इसे अति-चेतन के नाम से पुकारते हैं। यहाँ भी अहंकार की भावना लुप्त रहती है, पर इसमें तथा अवचेतन-स्तर में बहुत बड़ा अन्तर है। जब मन सापेक्ष चेतना से परे चला जाता है, तो वह अतिचेतन-स्तर पर आकर समाधिस्थ हो जाता है।

अतिचेतन-स्तर पर मन अपनी शुद्ध अवस्था में होता है। एक प्रकार से तब उसे आत्मा से तद्रूप कहा जा सकता है। तभी तो श्रीरामकृष्ण कहा करते थे— 'जो शुद्ध मन है, वही शुद्ध बुद्धि है और शुद्ध बुद्धि ही आत्मा है।'

चेतन, अवचेतन और अतिचेतन के ये तीनों स्तर उसी एक मन के हैं। मनुष्य में तीन मन नहीं होते, बल्कि ये तीन ऐसे स्तर हैं, जहाँ पर मन क्रियाशील होता है।

मनोनिग्रह का प्रश्न केवल चेतन-स्तर से सम्बन्ध रखता है। इस स्तर पर मन सामान्यतः अहं-भावना से

युक्त होता है। जब तक हम योग में प्रतिष्ठित नहीं हो जाते, तब तक अवचेतन मन को सीधे नियंत्रण में नहीं ला सकते। अतिचेतन-स्तर पर मन के निग्रह का प्रश्न उठता ही नहीं। किन्तु अतिचेतन-स्तर पर वे ही पहुँच सकते हैं, जिन्होंने चेतन और अवचेतन स्तरों पर अपने मन को नियंत्रित कर लिया है।

क्रियात्मक मन की चतुर्विध वृत्तियाँ होती हैं—मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त। 'मन' अन्तःकरण की उस वृत्ति को कहते हैं, जो किसी भी विषय के पक्ष और विपक्ष में संकल्प-विकल्प करती है। अन्तःकरण की निश्चय करनेवाली वृत्ति को 'बुद्धि' कहते हैं। अन्तःकरण की स्मरण करने वाली वृत्ति को 'चित्त' कहते हैं। अन्तः-करण की जो वृत्ति अहं-भावना से युक्त होती है, उसे 'अहंकार' कहते हैं। प्रत्येक बाह्य इन्द्रिय-संवेदना के साथ मन की ये चारों क्रियाएँ जुड़ी होती हैं। ये चारों क्रियाएँ एक दूसरे के बाद इतनी शीघ्रता से आती हैं कि वे एक साथ ही होती प्रतीत होती हैं।

मन अपने को निम्नलिखित पाँच अवस्थाओं में प्रकाशित करता है— क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। स्वामी विवेकानन्द समझाते हैं—

क्षिप्त में मन चारों ओर बिखर जाता है और कर्मवासना प्रबल रहती है। इस अवस्था में मन की प्रवृत्ति केवल सुख और दुःख, इन दो भावों में ही प्रकाशित होने की होती है। मूढ़ अवस्था तमोगुणात्मक है और इसमें मन की प्रवृत्ति केवल औरों

का अनिष्ट करने में होती है। विक्षिप्त (क्षिप्त से विशिष्ट) अवस्था वह है, जब मन अपने केन्द्र की ओर जाने का प्रयत्न करता है। यहाँ पर भाष्यकार कहते हैं कि विक्षिप्त अवस्था देवताओं के लिये स्वाभाविक है और क्षिप्त तथा मूढ़ावस्था असुरों के लिये। एकाग्र अवस्था तभी होती है, जब मन निरुद्ध होने के लिए प्रयत्न करता है और निरुद्ध अवस्था ही हमें समाधि में ले जाती है। †

सामान्यत: मन 'मूढ़' और 'क्षिप्त' अवस्थाओं में रहता है। 'मूढ़' अवस्था में मनुष्य शिथिल और अवसन्न हो जाता है। 'क्षिप्त' अवस्था में वह चांचल्य का अनुभव करता है। योगसाधना के द्वारा इसी मन को 'विक्षिप्त' और 'एकाग्र' बनाया जा सकता है। मन को एकाग्र बनाना ही मनोनिग्रह का समस्त प्रयोजन है। जब ऐसे मन को किसी भी क्षेत्र की क्रिया से युक्त किया जाता है, तो वह वहीं चमक उठता है। एकाग्र मन से सम्पन्न एक व्यापारी अपने व्यापार में उन्नति करेगा; एकाग्र मन से युक्त एक संगीतज्ञ बहुत बड़ा संगीतज्ञ हो जायगा; एकाग्र मन वाला एक वैज्ञानिक बड़ा ख्याति-प्राप्त वैज्ञानिक बन जायगा। एकाग्रता के अभ्यास और विकास द्वारा मन अपनी उच्चतम अर्थात् पाँचवी अवस्था में पहुँच जाता है, जिसे 'निरुद्ध' कहते हैं। इस अवस्था में मन अतिचेतन स्तर पर चला जाता है।

---

† विवेकानन्द साहित्य, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, खंड १, १९६३, पृ. ११८।

६. मनोनिग्रह को अनावश्यक रूप से कठिन बनाने से कैसे बचायें

अभी हमने मन के स्वभाव पर हिन्दू के दृष्टिकोण से कुछ विचार किया। यह ज्ञान मनोनिग्रह में हमारा सहायक हो सकता है, पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह सीधे हमें मनोनिग्रह में पहुँचा देगा। भले ही मानव-मनोविज्ञान का बहुत सा ज्ञान किसी को हो जाय, पर यह सम्भव है कि उसका मन एकदम नियंत्रित न हो। मुख्य बात है—मनोनिग्रह की दृढ़ इच्छाशक्ति। यदि वह हममें है, तो मनोविज्ञान की जानकारी निस्सन्देह हमारी सहायता करेगी, बशर्ते कि हम निर्दिष्ट साधनाओं का अभ्यास करें।

कुछ क्रियाओं, अभिरुचियों और विचार की आदतों के द्वारा हम मनोनिग्रह को लगभग असम्भव बना लेते हैं। उनके सम्बन्ध में जान लेना हमारे लिए सहायक होगा, जिससे कि हम उनसे बच सकें।

यदि हममें तीव्र राग और द्वेष हो, प्रेम और घृणा की भावनाएँ हो, तो हम अपने मन का निग्रह करने में समर्थ नहीं होंगे।

यदि हम अनैतिक जीवन बितायें, तो हम मन को नियंत्रण में नहीं ला सकेंगे।

यदि हममें जान-बूझकर दूसरों को हानि पहुँचाने की आदत हो, तो हम अपने मन को वश में नहीं कर सकेंगे।

यदि हम नशीली वस्तुओं का सेवन करते हों और असन्तुलित एवं अव्यवस्थित जीवन व्यतीत करते हों, अर्थात् खाना, पीना, बोलना, सोना और काम करना अति अल्प या अति अधिक मात्रा में करते हों, तो हम अपने मन को वश में नहीं कर सकेंगे।

यदि हम निरर्थक विवाद में पड़ने के आदी हों, दूसरों के सम्बन्ध में जानने के लिये अनावश्यक रूप से उत्सुक हों अथवा दूसरों के दोष खोजने में अत्यन्त तत्पर हों, तो हम अपने मन को वश में नहीं कर सकेंगे।

यदि हम अनावश्यक रूप से अपने शरीर को यंत्रणा दें, अर्थहीन खोजों में अपनी शक्ति खर्च करे, अपने ऊपर कठोर मौन का व्रत बलपूर्वक थोप लें, अथवा अत्यन्त आत्म-केन्द्रित बन जायँ, तो सहज ही मन को वश में करना हमारे लिए सम्भव न होगा।

यदि हम अपनी सामर्थ्य को न देखकर अधिक महत्त्वाकांक्षी हों, दूसरों की सम्पत्ति देखकर ईर्ष्या करते हों, अथवा धर्माभिमानी हों, तो अपने मन को सहज ही वश में नहीं कर सकेंगे।

यदि हममें अपराध की भावना हो, तो मन का निग्रह सम्भव न होगा। अतएव हमें मन से अपराध की समस्त भावना मिटा देनी चाहिए। हो चुके पापों के लिए अनुताप करना तथा भगवान् से इच्छाशक्ति को दृढ़ बनाने की प्रार्थना करना, ताकि फिर से वैसे पाप न हों, बस यही अपराध-भावना को दूर करने का

उपाय है ।

मनोनिग्रह में सफलता पाने के लिए दृढ़ इच्छाशक्ति के साथ साथ मनुष्य में आत्मविश्वास होना चाहिए । श्रीकृष्ण गीता (६ । ५) में कहते हैं कि स्वयं को ही अपनी दुर्बलता दूर करनी चाहिए तथा स्वयं को ही अपने आपको उठाना चाहिए । जो अपने मन को वश में लाना चाहता है, उसे इस उपदेश का पालन करना चाहिए ।

मन को मन के ही द्वारा नियंत्रण में लाना पड़ेगा । मनोनिग्रह में हम जिन कठिनाइयों का अनुभव करते हैं, वे सब हमारे अपने ही मन के द्वारा निर्मित होती हैं । मन को तनिक देर के लिए भी कृत्रिम उपायों द्वारा वश में नहीं किया जा सकता । उसके लिए तो धैर्य, अध्यवसाय, बुद्धिमत्ता और कठिन परिश्रम पूर्वक उपयुक्त और परीक्षित साधनाओं में लगना आवश्यक है ।

७. कार्य की स्पष्ट धारणा आवश्यक

यह स्पष्ट रूप से समझना और स्वीकार करना चाहिए कि ऐसी कोई ट्रिक नहीं है, जिससे मन वश में हो जाय । जो लोग जल्दबाज हैं और ऐसी कोई ट्रिक की खोज में रहते हैं, उन्हें सावधान कर देना चाहिए कि मन एक नाजुक यंत्र है और उससे बड़ी सावधानी के साथ व्यवहार करना चाहिए । मनोनिग्रह का समूचा कार्य हमें स्वयं ही करना होगा । इसे कोई दूसरा हमारे

लिए नहीं कर सकता । हम सब कुछ फीस देकर दूसरों से अपने लिए नहीं करा सकते । यह हमारा व्यक्तिगत कार्य है । इसे तो हमको स्वयं ही करना चाहिए । इस कार्य में हमें बड़े धैर्य की आवश्यकता होगी । स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—

मन को क्रमशः और विधिपूर्वक वश में करना पड़ेगा । लगातार शनैः शनैः धैर्यपूर्वक संयम के द्वारा इच्छाशक्ति को बलवती बनाना पड़ेगा । यह बच्चों का खिलवाड़ नहीं और न कोई सनक है कि उसमें पड़कर एक दिन अभ्यास किया जाय और दूसरे दिन त्याग दिया जाय । यह जीवन भर का काम है और लक्ष्य की सिद्धि में जो भी मूल्य चुकाना पड़े, वह सर्वथा उचित है, और यह लक्ष्य ईश्वर से अपने पूर्ण एकत्व के बोध जैसा महान् है । यदि इसे लक्ष्य बनाया जाय और यदि यह ज्ञान रहे कि सफलता ध्रुव है, तो उसकी सिद्धि के लिए कोई भी मूल्य चुकाना अधिक नहीं हो सकता ।†

(क्रमशः)

---

† विवेकानन्द साहित्य, खंड ४, पृष्ठ ९६ ।

एक भाव लेकर सदा उसी में विभोर होकर रहो । सोते-जागते सब समय उसी को लेकर रहो । तुम्हारा मस्तिष्क, स्नायु, शरीर के सर्वांग उसी के विचार से पूर्ण रहें । दूसरे सारे विचार छोड़ दो । यही सिद्ध होने का उपाय है ।....यदि हम सचमुच स्वयं कृतार्थ होना और दूसरों का उद्धार करना चाहें तो हमें और भी भीतर प्रवेश करना होगा ।

—स्वामी विवेकानन्द

स्वामी शुद्धानन्द

डा. नरेन्द्र देव वर्मा

सन् १८९७ ई० की फरवरी का वह दिन कलकत्ता के इतिहास में स्मरणीय रहेगा, क्योंकि इसी दिन विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्द का पाश्चात्य देशों में वेदान्त की ध्वजा फहराकर कलकत्ता-आगमन हुआ था। सारा कलकत्ता मानो सोये से जाग पड़ा था। समूचे वायुमंडल में एक उच्चतर अनुभूति व्याप्त हो गयी थी। बड़ी सुबह से चहल-पहल होने लगी थी। खासकर सियालदह स्टेशन की दिशा में जनप्रवाह उमड़ा जा रहा था। आज सियालदह स्टेशन पर ही तो उतरेंगे न स्वामीजी, इसीलिए। सर्पेंटाइन लेन का एक युवक भी जा रहा है सियालदह स्टेशन। इतने दिनों तक जिनको हृदय में ही पूजता रहा है वे जब साक्षात् यहाँ उपस्थित हो रहे हैं, तब भला वह घर में कैसे रुक सकेगा? उसके प्राण नहीं निकल जाएँगे घर में बैठे-बैठे? इसीलिए वह भी मुँह-अँधेरे झपटते हुए बढ़ रहा है। ऐसा न हो कि उसे देर हो जाए।

प्रतीक्षा के क्षण कितने दुःसह होते हैं! वह युवक जनप्लावन में मिल-सा गया है। फिर भी सबसे अगली पंक्ति में खड़ा हुआ पटरियों की छोर को पकड़ने की कोशिश कर रहा है। इसी दिशा से आएगी स्वामीजी की गाड़ी। युगाचार्य इसी दिशा से आ रहे हैं। एकटक निहार रहा है वह पटरियों को। एकाएक घंटी बजती है और उसके हृदय की धड़कन रुक-सी जाती है। दूर से रेलगाड़ी

दिखायी दे रही है। पास पहुँचने में कितनी देर लगेगी? और अब प्लेटफार्म में प्रवेश कर रही है ट्रेन। लोगों ने स्वामीजी को देख लिया है। सहस्रों कंठ से उठता है समवेत निनाद—'जय स्वामी विवेकानन्द जी की जय', 'जय रामकृष्ण परमहंस देव की जय!' पर उस युवक ने तो उन्हें नहीं देखा। कहाँ हैं स्वामीजी? ट्रेन अभी भी सरक रही है। पूरी तरह से रुकी नहीं है।...अहा! वे हैं स्वामीजी। गैरिक वसन में लिपटी तप्त कांचनवर्ण देह से ज्योति कैसे फूट-फूटकर निकल रही है! पथ की थकान से मुखमंडल क्वचित् श्रान्त लग रहा है। शायद लम्बी यात्रा के कारण हो। कितना सौभाग्यशाली है यह युवक! वह जहाँ खड़ा है ठीक वहीं स्वामीजी का डिब्बा रुका है। 'जय स्वामी विवेकानन्द जी की जय!' चिर-तृषार्त नेत्रों से वह वैराग्य-भास्कर की ओर देख रहा है। आँखें ठहरती ही नहीं इस अपूर्व पुरुष पर। और जब स्वामीजी ने उसे देखा तब...। तब तो वह धन्य हो गया। उसे लगा कि महापुरुष ने उसके जीवन-पुष्प को स्वीकार कर लिया। एक निमेष मात्र में वह युवक आमूल-चूल परिवर्तित हो गया। कौन कहता है कि वह कलकत्ता की सर्पेंटाइन लेन में रहता है? कौन कहता है कि वह आशुतोष चक्रवर्ती का पुत्र सुधीरचन्द्र चक्रवर्ती है? नहीं, वह यह सब नहीं है। वह तो इस देवदूत के चरणों की धूल है, चिर किंकर है। क्या महापुरुष उसे अपने पद-प्रदेश में स्वीकार करेंगे? क्या उसे उनकी सेवा करने का अवसर मिलेगा? स्वामीजी की

दृष्टि सुधीर पर पड़ी थी और प्रथम दृष्टि-निक्षेप में ही उन्होंने उसे अपना दासानुदास बना लिया था।

सियालदह स्टेशन में एक सुसज्जित रथ खड़ा है। स्वामीजी मन्द गति से लोगों की अभ्यर्थना को स्वीकार करते हुए बढ़ रहे हैं। पर उत्साही युवकगण अश्वों को यह सौभाग्य नहीं देना चाहते कि वे युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द को खींचने का अवसर प्राप्त कर सकें। घोड़ों को खोल दिया है और युवक स्वयं ही स्वामीजी का रथ खींच रहे हैं। और चतुर्दिक गूँज रही है जयध्वनि—'जय स्वामी विवेकानन्द जी की जय! 'सुधीर ने भी रथ में अपना हाथ लगाया है। रिपन कालेज के पास कुछ देर रुककर स्वामीजी ने उपस्थित जन-समूह को सम्बोधित किया। फिर वे बागबाजार लेन में पशुपति बाबू के घर रुके। आज उनका यहीं निवास है।

दोपहर को सुधीर अपने मित्र खगेन के साथ उनके दर्शनार्थ पहुँचा। तब स्वामीजी अपने गुरुभाइयों से वार्तालाप कर रहे थे। अहा! कितनी मधुर ध्वनि है स्वामीजी की! वे योगेन महाराज से कह रहे थे— "योगेन! मैं क्या देख रहा हूँ, जानता है? समस्त पृथ्वी में एक ही महाशक्ति क्रीड़ा कर रही है। हमारे बाप-दादाओं ने इसे धर्म के रूप में प्रकट किया था और पाश्चात्यदेशवासी इसे महारजोगुण की क्रिया के रूप में अभिव्यक्त कर रहे हैं। वस्तुतः समस्त संसार में इसी एक महाशक्ति की अनेकमुखी क्रीड़ाएँ हो रही हैं।"

उस दिन सुधीर की स्वामीजी से बातचीत नहीं हो पायी। कुछ दिनों बाद वह काशीपुर में गोपाल लाल शील के उद्यान-भवन में पहुँचा। तब स्वामीजी वहीं निवास कर रहे थे। उसने उन्हें प्रणाम किया। उसके बैठते ही स्वामीजी ने उससे पूछा, "क्या तू तम्बाकू पीता है ?" तब सुधीर ने अकचकाकर कहा, "जी नहीं।" इस पर स्वामीजी बोले, "हाँ, बहुत से लोग कहते हैं कि तम्बाकू पीना अच्छा नहीं है।" मैं भी छोड़ने की चेष्टा करूँगा।" सुधीर के मन में बहुत दिनों से एक प्रश्न उठ रहा था, पर उसमें स्वयं स्वामीजी से पूछने का साहस नहीं था। सो उसने शरत्‌चन्द्र चक्रवर्ती से वह प्रश्न स्वामीजी से पूछने के लिए कहा। एक दिन शरत् बाबू स्वामीजी के साथ टहल रहे थे। सुधीर भी तब वहीं था। शरत् बाबू ने स्वामीजी से पूछा, "अवतार-पुरुष और मुक्त या सिद्ध-पुरुष में क्या अन्तर है ?" यही था सुधीर का प्रश्न। पर स्वामीजी ने उसका सीधा उत्तर न देते हुए कहा, "विदेह-मुक्ति ही सर्वोच्च अवस्था है। यही मेरी मान्यता है। जब मैं साधनावस्था में भारत में विभिन्न दिशाओं में भ्रमण कर रहा था, तब मैंने कितनी ही गुफाओं में, कितने ही निर्जन स्थानों पर बैठकर न जाने कितना समय बिताया। मुक्ति-लाभ न होते देखकर कितनी ही बार मैंने प्रायोपवेशन के द्वारा देह-त्याग देने का संकल्प भी किया। न जाने मैंने कितना ध्यान, कितना साधन-भजन किया, पर अब मुक्ति-लाभ के लिए पहले का-सा विषम आग्रह नहीं है। अब तो मुझे यही लगता है कि जब

तक पृथ्वी का एक भी व्यक्ति अमुक्त है, तब तक मेरी स्वयं मुक्ति का कोई प्रयोजन नहीं है।" यह सुनकर सुधीर स्वयं सोचने लगा—"क्या इन्होंने अपना उदाहरण देकर अवतार-पुरुषों के लक्षणों की व्याख्या कर दी है ?"

एक अन्य दिन सुधीर पुनः अपने मित्र खगेन के साथ स्वामीजी के पास आया। श्रीरामकृष्ण देव के एक भक्त हरिमोहन बाबू उस समय वहीं थे। उन्होंने स्वामीजी से इनका परिचय कराते हुए कहा, "स्वामीजी ! ये लोग आपके बड़े 'एडमायरर' (प्रशंसक) हैं तथा वेदान्त-चर्चा भी खूब करते हैं।" यह सुनकर स्वामीजी ने सुधीर से पूछा, "कुछ उपनिषद् पढ़ा है ?" सुधीर ने डरते डरते उत्तर दिया, "जी हाँ, एकाध देखा है।" स्वामीजी ने फिर पूछा, "कौनसा उपनिषद् पढ़ा है ?" सुधीर कह उठा, "कठ-उपनिषद् पढ़ा है।" यह सुनकर स्वामीजी बड़े प्रसन्न हुए और बोले, "अच्छा, कठ ही सुनाओ। कठ उपनिषद् तो उत्कृष्ट और कवित्वपूर्ण है।" सुधीर बड़ी उलझन में पड़ गया। ऐसे तो गीता कण्ठस्थ थी, किन्तु कठ याद नहीं था। अत्यन्त विनम्र होकर उसने कहा, "कठ तो कण्ठस्थ नहीं है। गीता से एकाध सुनाऊँ ?" स्वामीजी बोले, "अच्छा, वही सुनाओ।" तब सुधीर गीता का एकादश अध्याय सुनाने लगा। सुनकर स्वामीजी बोले, "बहुत अच्छा, बहुत अच्छा।"

दूसरे दिन सुधीर राजेन्द्र घोष के साथ पुनः स्वामीजी के दर्शन के लिए गया। इस बार वह 'उपनिषद्-संग्रह' नामक किताब भी साथ ले आया था। उसे आशंका थी कि

स्वामीजी आज भी उपनिषद् सुनाने के लिए कहेंगे। और वही हुआ। घूम-फिरकर पुनः उपनिषद् का प्रसंग उठा। सुधीर तत्काल किताब निकालकर कठ उपनिषद् पढ़ने लगा। बीच-बीच में स्वामीजी श्लोकों की मार्मिक व्याख्या करने लगे। वे एक ऐसे ऋषि थे, जिन्होंने स्वयं अपने जीवन में उपनिषदों के सत्यों को उतार लिया था। उनकी अनुभूति-प्रवण वाणी के प्रभाव से सभी उपस्थित लोगों ने अभूत-पूर्व आध्यात्मिक उन्नयन का अनुभव किया। सुधीर तो अपना एक नया जन्म हुआ जान रहा था। स्वामीजी ने अपने एवंविध वचनों से अपने शिष्य के मन-प्राणों का प्रक्षालन आरम्भ कर दिया और एक दिन उसे स्वामी शुद्धानन्द बना दिया। स्वामीजी ने जिस गहन-गम्भीर वाणी में औपनिष-दीय श्लोकों की आवृत्ति और व्याख्या की थी, वह अन्त तक शुद्धानन्द के हृदय में जीवन्त बनी रही। इसका स्मरण करते हुए उन्होंने 'स्वामीजीर अस्फुट स्मृति' (स्वामीजी की अस्फुट स्मृति) में लिखा है—"विभिन्न समयों पर उनके मुख से विभिन्न सुर, लय और ताल के साथ तेजस्विता-समन्वित जो उपनिषद्-श्लोक उच्चरित हुए थे, उनमें से एक-एक मंत्र आज भी मुझे दिव्य कर्ण से सुनायी पड़ते हैं। जब मैं अन्य चर्चाओं में मग्न होकर आत्मचर्चा का विस्मरण कर देता हूँ, तब मुझे सुनायी देती है उनकी सुपरिचित किन्नर कण्ठोच्चरित उपनिषदोक्त वाणी की दिव्य गम्भीर घोषणा—"तमेवैकं जानथ आत्मानम् अन्या वाचो विमुंचथा-मृतस्यैष सेतुः" (मुण्डक, २।२।५)—'उसी एक आत्मा को

जानो। अन्य समस्त बातों का परित्याग करो। वही अमृत का सेतु है।' जब आकाश मेघाच्छन्न होता और बिजलियाँ चमकतीं, तो लगता मानो स्वामीजी उसी आकाशस्थित सौदामिनी की ओर अंगुलिनिर्देश करते हुए कह रहे हैं—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ (कठ, २।२।१५)

—'वहाँ सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्रमा और तारे भी नहीं। ये सब बिजलियाँ वहाँ नहीं चमकतीं। तब भला सामान्य अग्नि की बात ही क्या? ये सब उसी से प्रकाशित होते हैं—उसी की दीप्ति से दीप्त हैं।"

अथवा जब तत्त्वज्ञान को भुला देने से मन हताश हो जाता है, तब मुझे स्वामीजी के आनन्दोत्फुल्ल मुख से निर्गत उपनिषद् की यह वाणी आश्वासन देती है—

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः। (श्वेताश्वतर, २।५)
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ (श्वेताश्वतर, ३।८)

—'हे अमृत के पुत्रो! हे दिव्यधाम के निवासियो! तुम भी सुनो। मैंने उस महान् पुरुष को जान लिया है, जो आदित्य के समान ज्योतिर्मय है और अज्ञानान्धकार

से परे है। उसे जानकर मनुष्य मृत्यु को भी जीत लेता है। मुक्ति का अन्य दूसरा पथ नहीं है।'

कहा जा चुका है कि स्वामी शुद्धानन्द का पूर्वनाम सुधीरचन्द्र चक्रवर्ती था तथा उनके पिता श्री आशुतोष चक्रवर्ती बड़े ही धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे । सुधीर का जन्म सन् १८७२ ई० के आश्विन की शुक्ला महाष्टमी के दिन हुआ था। बाल्यकाल से ही सुधीर की प्रवृत्ति बड़ी धार्मिक थी। साधु-संन्यासियों के दर्शन एवं धार्मिक ग्रन्थों के पाठ से उन्हें बड़ा आनन्द मिलता। उनकी धार्मिकता का विशेष रूप से विकास तब हुआ, जब उन्होंने प्रवेशिका की परीक्षा पास कर सिटी कॉलेज में एफ. ए. की पढ़ाई शुरू की। यहीं उनकी मैत्री खगेन, कालीकृष्ण, हरिपद और गोविन्द से हुई, जो कालान्तर में क्रमशः विमलानन्द, विरजानन्द, बोधानन्द और आत्मानन्द के नाम से विख्यात हुए।

इन आध्यात्मिक भावापन्न मित्रों के साहचर्य में सुधीर प्रायः अपना अधिकांश समय धर्मग्रन्थों के पठन, भजन और कीर्तनादि में बिताया करते। सुधीर ने एक वादविवाद-समिति भी गठित की थी जहाँ अंग्रेजी और बँगला में धार्मिक भाषण का अभ्यास किया जाता था। कुछ दिनों तक सुधीर अपने मित्रों के साथ आर्यमिशन इंस्टीट्यूशन में पंचानन भट्टाचार्य से योगाभ्यास सीखने भी गये। इन दिनों सुधीर के जीवन की गति ऊर्ध्व दिशा में प्रवाहित हो रही थी। उन्होंने कुरता पहनना

छोड़ दिया था और कन्धों पर उत्तरीय डाले घूमा करते। इतनी कम अवस्था में ही उन्हें संसार के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो चुका था और उनके प्राण संसार को छोड़ने के लिए छटपटाने लगे थे। वे दो बार घर छोड़कर निकल भी चुके थे, पर न जाने किस आकर्षण से वे वापस लौट आए।

श्रीरामकृष्ण देव का नाम उनके कानों में पड़ चुका था। एक दिन वे इस देवमानव की लीलास्थली दक्षिणेश्वर के दर्शन करने खगेन और कालीकृष्ण के साथ वहाँ पहुँचे। उन्होंने सारी रात पंचवटी में ध्यान-साधना में व्यतीत की और भिक्षान्न ग्रहण किया। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में जब पाश्चात्य देश वेदान्त की ऊर्जस्वित्त भावधारा का परिचय पाकर चमत्कृत हो उठे थे, तब वेदान्त के दिग्विजय की जय-ध्वनि भारतवासियों के कानों में भी पड़ी। जब सुधीर को यह पता चला कि वेदान्त के सन्देशवाहक युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द श्रीरामकृष्ण परमहंस देव के शिष्य हैं, तब तो वे उनका दर्शन प्राप्त करने के लिए व्याकुल हो उठे। उनके घर के समीप ही धर्मतला में 'इंडियन मिरर' समाचार-पत्र का कार्यालय था। वे प्रतिदिन स्वामीजी का समाचार लेने वहाँ पहुँच जाते। उनकी सफलता का समाचार पाकर उनका हृदय प्रसन्नता से भर उठता और वे स्वामीजी का दर्शन करने के लिए और भी अधिक व्याकुल हो उठते।

सुधीर के अनेक मित्र वराहनगर और आलमबाजार

मठ में जाया करते थे। एक बार वे भी गए। पहली ही बार में उनका हृदय श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अभिभूत हो उठा। श्रीरामकृष्ण देव के संन्यासी शिष्य स्वामी अद्‌भुतानन्दजी ने तो उन्हें मंत्रमुग्ध कर लिया। अद्‌भुतानन्दजी तथा उनके अन्य गुरुभाई भी कभी-कभी आलमबाजार से सुधीर आदि के सान्ध्य-अड्डे पर आया करते थे। समवेत युवकमंडली उनके आगमन से उत्फुल्ल हो उठती और फिर भजन, प्रार्थना, श्रीरामकृष्ण देव की लीलाओं पर चर्चा और धर्मग्रन्थों के पठन-पाठन में समय कैसे बीत जाता, इसका पता भी नहीं चलता था। सुधीर के मित्र कालीकृष्ण दो वर्षों से आलमबाजार मठ में ही निवास कर रहे थे, किन्तु स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण श्रीमाँ सारदा देवी ने उन्हें घर में रहकर चिकित्सा कराने का निर्देश दिया था। इसलिए कालीकृष्ण घर चले आए थे। सुधीर प्रतिदिन दोपहर को कालीकृष्ण के घर पहुँच जाते और उनसे वराहनगर एवं आलमबाजार मठ की अनेक बातें सुना करते। धीरे-धीरे उनके मन में स्वामीजी के चरणों में अपना जीवन अर्पित कर देने की भावना बलवती होती गयी और जब उन्होंने स्वामीजी को देखा तथा उनके वचनों को सुना, तब उनके मन में वैराग्याग्नि इतनी प्रबल हो गयी कि वे संसार त्यागकर आलमबाजार मठ में स्थायी रूप से निवास करने चले आए।

यह सन् १८९७ ई० के अप्रैल मास की घटना है।

जिस समय सुधीर संसार त्यागकर आलमबाजार मठ पहुँचे थे, तब स्वामीजी दार्जिलिंग में थे। कुछ दिनों बाद वे वापस लौटे। उनके साथ स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी योगानन्द तथा स्वामीजी के शिष्य आलासिंगा पेरूमल, किडी, जी. जी. नरसिंहाचारी तथा अन्य लोग भी थे। स्वामीजी सुधीर को देखकर प्रसन्न हुए और स्नेह से उन्हें 'खोका' कहकर पुकारने लगे।

सुधीर में उच्च कोटि की गुरुभक्ति, सेवा-भाव और निरहंकारिता का विकास हुआ था। साथ ही गुरु के सम्मुख उन्हें किसी बात में कोई संकोच भी नहीं होता था। उनके जीवन की अनेक घटनाओं से उनके इन महत्तर गुणों का परिचय मिलता है। जब उन्हें मठ में आए तीन-चार दिन ही हुए थे, तभी उनकी संकोचहीनता का परिचय लोगों को मिल गया। उन दिनों मठ में नये साधुओं और ब्रह्मचारियों की संख्या में क्रमशः वृद्धि होती जा रही थी। अतएव यह आवश्यक समझा जा रहा था कि मठवासियों एवं नवागत साधकों के लिए एक सुनिर्दिष्ट शिक्षा-प्रणाली तथा कार्य-पद्धति की योजना की जाय। स्वामीजी के नवदीक्षित संन्यासी शिष्य स्वामी नित्यानन्द ने स्वामीजी से इस सम्बन्ध में कहा, "अनेक नये-नये लड़के संसार त्यागकर यहाँ मठ में रह रहे हैं। उनके लिए एक निर्दिष्ट नियम और शिक्षा-प्रणाली की व्यवस्था करना बहुत अच्छा होगा।" स्वामीजी उनके प्रस्ताव से बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने मठ के अन्य लोगों को भी बुलवा

लिया। सबके आने पर स्वामीजी ने कहा, "कोई एक लिखते जाओ। मैं बोलता हूँ।" किन्तु किसी में स्वामीजी के सम्मुख बैठकर लिखने का साहस नहीं हुआ। तब सुधीर उठे और कागज-कलम लेकर लिखने के लिए बैठ गये। स्वामीजी प्रमुदित होकर नियमावली लिखाने लगे। नियमों को लिखाने के पहले उन्होंने कहा, "देखो, इन सब नियमों का बनाना तो ठीक है, पर पहले मुझसे यह जान लो कि इन सबका लक्ष्य क्या है। हमारा मूल उद्देश्य है—समस्त नियमों से परे जाना। इन नियमों के पालन करने का तात्पर्य यह है कि हममें स्वभावतः कुछ कुनियम होते हैं। सुनियमों के द्वारा इन कुनियमों को दूर करके शेष समस्त नियमों से परे जाने की चेष्टा करनी होगी। ठीक वैसे ही, जैसे काँटे से काँटा निकाला जाता है और बाद में दोनों को फेंक दिया जाता है।" सब नियमों को लिखने के बाद उन्होंने सुधीर से कहा, "देख, इन नियमों को अच्छी तरह से देख-भाल ले। यदि कोई नियम 'निगेटिव' (निषेधात्मक) हो, तो उसे पॉजीटिव (विधेयात्मक) बना लेना।"

स्वामीजी ने सुधीर को ब्रह्मचारी शुद्धानन्द नाम प्रदान किया और सन् १८९७ ई० की मई में आलम-बाजार मठ में मंत्रदीक्षा दी। मंत्र प्रदान करने के पहले स्वामीजी ने उनसे पूछा, "तुझे साकार अच्छा लगता है या निराकार अच्छा लगता है?" शुद्धानन्द बोले, "कभी साकार अच्छा लगता है और कभी निराकार अच्छा

लगता है।" तब स्वामीजी ने कहा, "ऐसे नहीं होगा। गुरु जानते हैं, किसका पथ कौनसा है। अपना हाथ तो दिखा ?" इतना कहकर स्वामीजी ने शुद्धानन्द का दाहिना हाथ अपने हाथ में लिया और ध्यान करने लगे। कुछ देर बाद उन्हें मंत्र देते हुए बोले, "इसी से तुझे सुविधा होगी।" बाद में शुद्धानन्द ने स्वामी निरंजनानन्द जी से संन्यास-दीक्षा ली और स्वामी शुद्धानन्द बने।

स्वामीजी अपने शिष्यों की आध्यात्मिक उन्नति के लिए सर्वदा सचेष्ट रहते थे। एक बार उन्होंने शुद्धानन्द आदि शिष्यों को मन्दिर में बुलाकर साधन-भजन विषयक अनेक उपदेश दिये तथा आसन, प्राणायाम, जप एवं प्रार्थना की शिक्षा दी। स्वामीजी के अनुरोध पर उनके गुरुभाई स्वामी तुरीयानन्द प्रतिदिन उन्हें साधना का अभ्यास कराया करते। एक बार स्वामीजी ने शुद्धानन्द को सभी लोगों के समक्ष 'आत्मतत्त्व' पर भाषण देने के लिए कहा। शुद्धानन्द ने लगभग आधे घण्टे तक बृहदारण्यक उपनिषद् के याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद का उल्लेख करते हुए व्याख्यान दिया। स्वामीजी ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। स्वामीजी के प्रोत्साहन के शब्द शिष्यों में नयी सक्रियता का संचार करते थे। उनकी उत्साहपूर्ण वाणी का स्मरण करते हुए शुद्धानन्द ने अपने एक पत्र में लिखा था—"ऐसा उत्साह देनेवाला, आश्वासन देनेवाला कहाँ मिलेगा ? क्या कोई ऐसा व्यक्ति होगा जो अपने शिष्यों को यह लिखे—'मैं चाहता हूँ कि मेरी प्रत्येक

सन्तान मुझसे सैकड़ों-गुना महान् हो। तुममें से प्रत्येक को अतिमानव होना होगा। होना ही होगा—यही मेरी आज्ञा है'।"

स्वामीजी ने इंग्लैंड में 'ज्ञानयोग' पर जो व्याख्यान दिये थे, वे छोटी-छोटी पुस्तिकाओं के रूप में अंग्रेजी में प्रकाशित हो रहे थे। मठ के लोग प्रतिदिन उनका पाठ करते। स्वामीजी के गुरुभाई स्वामी अद्वैतानन्द अंग्रेजी नहीं जानते थे, पर उनकी यह जानने की बड़ी इच्छा थी कि नरेन ने साहबों के बीच क्या कहा है। नये ब्रह्मचारी उन्हें स्वामीजी के भाषणों का बँगला में अनुवाद कर सुनाया करते। शुद्धानन्द भी उन्हें सुनाते। स्वामी प्रेमानन्द यह देख बड़े प्रसन्न हुए और बोले, "तुम लोग स्वामीजी के इस प्रवचन का बँगला में अनुवाद कर डालो।" जब स्वामीजी को यह पता चला कि नवागत ब्रह्मचारियों ने उनके भाषणों का बँगला-अनुवाद किया है, तो उन्होंने उसे सुना और एक दिन शुद्धानन्द से बोले, "तुम 'राजयोग' का अनुवाद कर डालो।"

स्वामीजी के आदेश से शुद्धानन्द को अपने कार्य की सुस्पष्ट रूपरेखा मिल गयी। वे श्रद्धापूर्वक अनुवाद-कार्य में लग गये। केवल 'राजयोग' ही नहीं, प्रत्युत उन्होंने 'ज्ञानयोग', 'कर्मयोग' और 'भक्तियोग' का भी अनुवाद किया। उनका अनुवाद इतना सहज स्वाभाविक था कि उसे पढ़ने में मूल-ग्रन्थ का-सा आनन्द आता। और इस प्रकार स्वामीजी की वाणी-मन्दाकिनी को भगीरथ के

समान शुद्धानन्द ने बंगाल के घर-घर तक प्रवाहित कर दिया। शुद्धानन्द की स्मृति बड़ी अद्‌भुत थी। स्वामीजो के वचन ही नहीं, प्रत्युत उनकी भावभंगिमा भी उनके स्मृति-पलट पर चिरस्थायी हो जाती। एक बार स्वामीजी की गीताविषयक चर्चा को सुनकर उन्होंने हूबहू उसे कागज पर उतार लिया था। यह व्याख्यान स्वामीजी की ग्रन्थावली में 'गीतातत्त्व' के नाम से प्रकाशित हुआ है। गीता पर प्रवचन करते हुए स्वामीजी की दिव्य छबि का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा था——"हे पाठको! इस महापुरुष की उस छबि को मैं आज भी अपनी आँखों के सामने देख रहा हूँ। मेरे इस क्षुद्र प्रयास से वह आपके भी मनश्चक्षुओं में उद्‌भासित होगी। उनकी बात का स्मरण करते ही मेरे अन्तर्नेत्रों में उस महापण्डित, महातेजस्वी और महाप्रेमिक की छबि उपस्थित हो गयी है। आप लोग भी मेरे साथ देश और काल के व्यवधान का उल्लंघन कर हमारे स्वामीजी को देखने की चेष्टा करें। स्वामीजी कह रहे थे—— 'जब दूसरों को ब्रह्मदृष्टि से देखना होता है, तब महापापी पर घृणा करना उचित नहीं होता। महापापी से घृणा मत करो।'——यह कहते कहते स्वामीजी के मुख पर जो भावान्तर हुआ था, उसकी छबि आज भी मेरे हृदय पर अंकित है। ऐसा लगता था मानो उनके मुख से शतधाराओं में प्रेम प्रवाहित हो रहा है और उनका मुख प्रेम से जगमगा उठा है। उस पर लेशमात्र भी कठोरता नहीं थी।"

(५)

स्वामीजी अप्रतिम गुरु थे। शास्त्राभ्यास के साथ ही शिष्यों की आध्यात्मिक एवं नैतिक उन्नति के प्रति उनकी दृष्टि बड़ी प्रखर थी। एक बार शास्त्र-पाठ करते समय उन्होंने शुद्धानन्द आदि शिष्यों से कहा था, "इन मंत्रों का अर्थ भाष्य न पढ़कर स्वतंत्र रूप से जानने की चेष्टा करो।" इस सम्बन्ध में शुद्धानन्द ने बाद में लिखा था— "हम बंगाली लोग संस्कृत भाषा का ठीक-ठीक उच्चारण नहीं करते। इसका उच्चारण इतना सहज है कि थोड़े से प्रयत्न से शुद्ध उच्चारण किया जा सकता है। हमारे लड़के अन्य प्रकार से उच्चारण करने के अभ्यस्त हैं, इसलिए इसका शुद्ध उच्चारण हमें ऐसा अनहोना और कठिन लगता है। हम लोग 'आत्मा' शब्द का उच्चारण 'आत्मा' न कर 'आत्ताँ' क्यों करते हैं? महर्षि पतंजलि ने अपने 'महाभाष्य' में कहा है कि अपशब्द उच्चारण करनेवाले भ्रष्ट होते हैं। हम सभी पतंजलि के अनुसार भ्रष्ट हैं।" स्वामीजी शुद्धानन्द को यदा कदा संस्कृत में पत्र लिखा करते थे। एक बार 'ब्रह्मसूत्र' पढ़ाते समय स्वामीजी ने कहा था, "यह किसने कहा है कि ये सूत्र केवल अद्वैत मत के पोषक हैं? शंकर अद्वैतवादी थे। उन्होंने समस्त सूत्रों से केवल अद्वैत मत की व्याख्या की। किन्तु तुम लोग इसका अक्षरार्थ करने की चेष्टा करो, व्यास के यथार्थ अभिप्राय को समझने की चेष्टा करो। उदाहरणार्थ, 'अस्मिन्नस्य तद्योगं शास्ति।' (ब्रह्मसूत्र, १।१।१९)। इस सूत्र की ठीक-ठीक व्याख्या मेरे मतानुसार यह है कि भगवान् वेदव्यास अद्वैत और

विशिष्टाद्वैत दोनों वादों को जानते थे ।"

अपने शिष्यों के आचरण पर भी स्वामीजी की तीक्ष्ण दृष्टि थी । उन दिनों यातायात की विशेष सुविधा न होने के कारण अखबार मठ तक नहीं आता था। अखबारवाला मठ के अखबार को कुछ दूर स्थित विधवाश्रम में छोड़ जाता था, जहाँ से रोज उसे मठ में लाने के लिए जाना पड़ता। निर्भयानन्द पर प्रतिदिन अखबार लाने का कार्य सौंपा गया था। एक दिन वे अपने साथ शुद्धानन्द को भी लेते गये, ताकि उनकी अनुपस्थिति में वे वहाँ से अखबार ला सकें । इसी बीच वेदान्त पढ़ने के लिये स्वामीजी ने शुद्धानन्द को बुलवा भेजा । शुद्धानन्द जब लौटे, तब उन्हें पता चला कि उनका महिलाश्रम जाना स्वामीजी को पसन्द नहीं है । जब उन पर उस कार्य का भार नहीं है, तब वे वहाँ क्यों गये ? स्वामीजी की छोटीसी बात शुद्धानन्द के लिए महान् शिक्षा बन गयी । बाद में उन्होंने स्वामीजी के एतद्विषयक विचारों पर प्रकाश डालते हुए लिखा था--"जब स्वामीजी अलमोड़ा जाने के लिए मठ से निकल रहे थे, तब सीढ़ी के पास के बरामदे पर खड़े होकर उन्होंने दृढ़ स्वर में नवीन ब्रह्मचारियों को ब्रह्मचर्य के विषय में जो कुछ कहा था, वह आज भी मेरे कानों में गूँज रहा है--'देखो बेटे ! ब्रह्मचर्य के बिना कुछ भी नहीं होगा । धर्मजीवन की प्राप्ति में ब्रह्मचर्य ही तुम्हारा एकमात्र सहायक है । तुम लोग स्त्रियों के संस्पर्श में बिलकुल न आना । मैं तुम लोगों से स्त्रियों से घृणा करने

के लिए नहीं कहता । वे तो साक्षात् भगवतीस्वरूपा हैं । किन्तु स्वयं की सुरक्षा की दृष्टि से उनके पास रुकना अच्छा नहीं है । मैंने अनेक स्थानों पर यह कहा है कि संसार में रहकर भी धर्म हो सकता है । पर इससे यह न समझ लेना कि मेरे मतानुसार धर्मजीवन के लिए संन्यास और ब्रह्मचर्य आवश्यक नहीं हैं । मैं क्या करता ? उन भाषणों के सभी श्रोता संसारी और गृहस्थ थे । उन्हें मैंने ऐसा इसलिए कहा कि उनके मन में क्रमशः ब्रह्मचर्य प्राप्त करने की जिज्ञासा हो । किन्तु मैं अपने हृदय की बात तुम्हें बताता हूँ—ब्रह्मचर्य के बिना थोड़ा सा भी धर्मलाभ नहीं होगा । तुम लोग तन, मन और वचन से ब्रह्मचर्य का पालन करो ।"

इसी प्रकार जब एक बार स्वामीजी नये ब्रह्मचारियों को वेदान्त पढ़ा रहे थे, तब बाबूराम महाराज उनसे सान्ध्य-प्रार्थना में चलने के लिए कहने आये । ब्रह्मचारीगण दुविधा में पड़ गये । स्वामीजी की अपूर्व चर्चा को कैसे छोड़ दें और साथ ही सान्ध्य-प्रार्थना में गये बिना भी तो नहीं बनता ? तब स्वामीजी ने बाबूराम महाराज से कहा, "यह जो वेदान्त की पढ़ाई हो रही है, वह क्या ठाकुर की पूजा नहीं है ? चित्र के सामने बैठकर केवल झाँझ पीटने से क्या भगवान् की यथार्थ उपासना हो जायेगी ?"

स्वामीजी शुद्धानन्द की कर्मठता पर बहुत भरोसा रखते थे। वे अपने पत्र प्रायः शुद्धानन्द से ही

लिखाया करते थे। उन्हीं के आदेश से शुद्धानन्द ने मठ की दैनन्दिनी रखना शुरू किया। यह डायरी आज भी सुरक्षित है। सन् १८९७ ई० में जब स्वामीजी ने उत्तर भारत की यात्रा की, तब शुद्धानन्द भी उनके साथ थे। इस यात्रा में स्वामीजी ने जहाँ अपने उत्तराधिकारी का निर्माण किया, वहाँ उनके साहचर्य में शुद्धानन्द का जीवन कृत-कृत्य हो गया।

स्वामीजी श्रीरामकृष्ण देव के सन्देश के प्रचारार्थ एक बँगला पत्र प्रकाशित करना चाहते थे। उनकी यह इच्छा १४ जनवरी, सन् १८९७ ई० को 'उद्बोधन' के प्रकाशन से साकार हुई। तब स्वामी त्रिगुणातीतानन्द इसके सम्पादक थे और शुद्धानन्द उनके सहकारी। कालान्तर में जब त्रिगुणातीतानन्द जी सैनफ्रांसिस्को के वेदान्त-केन्द्र में प्रचार-कार्य हेतु चले गये तब 'उद्बोधन' के प्रकाशन-सम्पादन की जटिल समस्या आयी। स्वामी ब्रह्मानन्द जी और सारदानन्द जी सोचने लगे कि कहीं 'उद्बोधन' का प्रकाशन बन्द न कर देना पड़े। किन्तु शुद्धानन्द के प्रयासों से 'उद्बोधन' पूर्ववत् प्रकाशित होता रहा। इसी समय शुद्धानन्द ने स्वामीजी की अग्निगर्भ वाणी का बँगला रूपान्तर और सारदानन्द जी प्रणीत श्रीश्रीराम-कृष्ण-लीला प्रसंग' का धारावाहिक प्रकाशन प्रारम्भ किया।

सन् १९०३ ई० में शुद्धानन्द मठ के ट्रस्टी चुने गये तथा उनके ही प्रयास से अप्रैल, सन् १९२६ ई० में सात दिनों का साधु-महासम्मेलन आयोजित हुआ। सन् १९२७

ई० के अगस्त मास में स्वामी सारदानन्द जी के देहत्याग के अनन्तर शुद्धानन्द को ही जनरल सेक्रेटरी बनाया गया। तब से सन् १९३४ ई० तक वे उसी पद पर बने रहे। सन् १९२९ ई० में स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण उन्होंने एक वर्ष का अवकाश लिया था, तब स्वामी विरजानन्द ने उनका यह कार्य-भार सम्हाला था। सन् १९३४ ई० में उन्होंने जनरल सेक्रेटरी के पद से मुक्त होने की इच्छा प्रकट की और साधन-भजन के लिए हिमालय स्थित श्यामलाताल चले गये। यहाँ उन्होंने छः मास व्यतीत किये। सन् १९३६ ई० में बेलुड़ मठ में श्रीराम-कृष्ण देव की जन्म-शताब्दी का आयोजन किया गया था। इस दिन एक धर्मसभा भी होनेवाली थी। शुद्धा-नन्द के सभापतित्व में यह आयोजन अविस्मरणीय रूप से सफल रहा।

मठ एवं मिशन के नानाविध कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी शुद्धानन्द का जीवन तपस्यापूर्ण बना रहा। उन्होंने युवकों के मध्य स्वामीजी की विचारधारा का प्रसार करने का विशेष प्रयास किया तथा कलकत्ता में 'विवेका-नन्द समिति' की स्थापना उन्हीं के प्रयासों से हुई। शुद्धा-नन्द के प्रोत्साहन से स्वामी विरजानन्द ने स्वामीजी की जीवनी अंग्रेजी में तैयार की और वह पहले चार खण्डों में प्रकाशित की गयी।

इन कार्यों के अतिरिक्त शुद्धानन्द प्रतिदिन दो घण्टे शास्त्रों का अध्यापन भी किया करते। उन्होंने श्रीराम-

कृष्ण देव और स्वामीजी के जीवनालोक में गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र की मार्मिक व्याख्या की थी। वे चाहते थे कि मठ का प्रत्येक व्यक्ति निष्काम कर्म के साथ ही ब्रह्मविचार और आत्मचिन्तन में भी समान रूप से दक्ष बने। उपनिषदों के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने के लिए उन्होंने बृहदारण्यक उपनिषद् के 'याज्ञवल्क्य उपाख्यान' को सरल संस्कृत भाषा में नाट्य रूप में लिखा था। स्वामी प्रेमानन्दजी द्वारा स्थापित संस्कृत-चतुष्पाठी के मूल में उन्हीं का आग्रह विद्यमान था। शुद्धानन्द ने मठ और मिशन की अनेक शाखाओं की नींव डाली थी। ढाका की शाखा तो उनके ही सत्प्रयासों से स्थापित हुई थी।

शुद्धानन्द का शरीर प्रारम्भ से ही सबल नहीं था। अत्यधिक परिश्रम ने उसे और भी क्लान्त बना दिया था। सन् १९३७ ई० में उन्हें हलका पक्षाघात हुआ था, किन्तु चिकित्सादि से वे शीघ्र ही स्वस्थ हो गये। शुद्धानन्द में शिशुसुलभ निरहंकारिता और अविचल गुरुभक्ति का विकास हुआ था। एक बार किसी ने उनसे पूछा, "अच्छा जी ! आपने सब कुछ छोड़कर गेरुआ क्यों पहन लिया?" शुद्धानन्द ने सरल भाव से उत्तर दिया, "सभी को इस जगत् को छोड़कर जाना होगा। घर में रहने पर ऊपर की पुकार सुनकर जाने में बड़ा कष्ट होता है। इसलिए मैं सब कुछ छोड़-छाड़कर गेरुआ पहनकर वहाँ जाने के लिए तैयार बैठा हूँ।" एक बार उन्होंने कहा था, "सामान्य

अंग्रेजी पढ़कर हम लोग सभी विषयों पर सन्देह करना सीख गये हैं, पर स्वामीजी की बातों पर मुझे कभी भी अविश्वास नहीं हुआ। उनकी बातें सुनते ही यह धारणा हो जाती थी कि वे ध्रुव सत्य हैं।" एक अन्य घटना से उनकी प्रखर गुरु-भक्ति का परिचय मिलता है। एक बार उनके परिचित ब्राह्मण व्यक्ति ने उनसे कहा, "यह क्या सुधीर! तुमने उच्च ब्राह्मण-कुल में जन्म लेकर एक कायस्थ को अपना गुरु बना लिया?" शुद्धानन्द ने भावविगलित कण्ठ से उत्तर दिया, "अरे भाई! कायस्थ की क्या बात है? मैं तो सोचता हूँ कि वे चाण्डाल के घर पैदा क्यों नहीं हुए!"

फरवरी सन् १९३७ ई० में शुद्धानन्द मठ और मिशन के उपाध्यक्ष हुए तथा २८ अप्रैल, सन् १९३८ को स्वामी विज्ञानानन्द जी की महासमाधि के उपरान्त उन्हें अध्यक्ष बनाया गया। स्वामी शुद्धानन्द के योगोद्दीप्त अनाडम्बर जीवन से सभी को प्रेरणा प्राप्त होती थी। स्वामी विवेकानन्द ने नियमावली में उन्हें लिखाया था—"यह संघ उनका (श्रीरामकृष्ण देव का) अंगस्वरूप है और वे यहाँ सदैव विद्यमान हैं।" शुद्धानन्द ने अपना समूचा जीवन संघरूपी श्रीरामकृष्ण देव की सेवा में लगा दिया। यद्यपि उन्होंनें मानसरोवर तक यात्रा की थी, पर उनका अधिकांश समय मठ में ही बीता था। तपस्या के विषय में उन्होंने मननीय विचार व्यक्त किये थे। उन्होंने अपनें एक पत्र में लिखा था—"मनुष्य की आभ्यन्तरिक

शक्ति के साथ वातावरण के संघर्ष का नाम ही साधना है। उन्नति के दो ही मार्ग हैं। एक तो यह कि इस वातावरण को बलपूर्वक त्यागकर अनुकूल वातावरण में स्वयं को स्थापित कर लो, अथवा इसी वातावरण में रहकर संघर्ष करते हुए शक्ति और ओज का संचय करो। पर यदि वातावरण को ही चलने दिया जाय तब तो मृत्यु निश्चित है।"

स्वामी शुद्धानन्द अल्प समय के लिए ही अध्यक्ष रहे। कुछ ही महीनों बाद उन्हें ज्वर हो आया तथा अन्य व्याधियाँ भी उत्पन्न हो गयीं। चिकित्सकों को विचार-विमर्श करते देख उन्होंने कहा, "अब मुझे और दवाइयों की आवश्यकता नहीं है। अब तो मैं केवल भगवान् का नाम सुनूँगा।" स्वामी शुद्धानन्द पिछले कुछ महीनों से शास्त्रग्रन्थ और श्रीरामकृष्णवचनामृत सुन रहे थे। देह-त्याग के एक दिन पूर्व तक उन्होंने नियमित रूप से इन ग्रन्थों का श्रवण किया। २३ अक्तूबर, सन् १९३८ ई० को ६६ वर्ष की अवस्था में प्रातःकाल ८ बजकर ४० मिनट पर उन्होंने श्रीगुरु के चरणों में चिरविश्राम ग्रहण किया। शुद्धानन्दजी युगाचार्य विवेकानन्द के भाव और वाणी के जीवन्त भाष्यरूप थे। उनका समग्र जीवन कर्मठ वेदान्त का जीवन था। उन्होंने स्वामीजी के अधिकांश ग्रन्थों का बंग-भाषा में अनुवाद किया था और वे उनके भावादर्श के महान् प्रवक्ता थे।

(६)

भक्ति का माधुर्य

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम में प्रदत्त प्रवचन का एक अंश)

जब प्रभु वन में थे, तो इनके सेवक थे बन्दर। और बन्दरों में अनुशासन का यह ज्ञान तो रहता नहीं कि स्वामी को कहाँ बैठाया जाय और सेवक कहाँ बैठे। उनका बैठना कैसा है ?

प्रभु तरु तर कपि डार पर।

—प्रभु बैठे हुए हैं नीचे और बन्दर हैं वृक्ष की डाल पर। लक्ष्मणजी ने प्रभु से कहा कि इन बन्दरों को थोड़ी अनुशासन की शिक्षा दे दी जाय। इनको इतनी भी शिष्टता का ज्ञान नहीं है कि कैसे बैठना चाहिए। भगवान् ने कहा—लक्ष्मण ! ऐसा नहीं करना। इनके वृक्ष में बैठने से मुझे दो लाभ हैं—एक तो यह कि जब मैं इन मित्रों को डाली के ऊपर देखता हूँ, तो मुझे अपार सुख मिलता है। कैसा सुख ? पिछले प्रसंग में हमने देखा था, हनुमान्‌जी के बाँधकर लाये जाने पर रावण ने कहा था कि बन्दर की पूँछ जला दो क्योंकि—

कपि कें ममता पूँछ पर।

—कपि की ममता पूँछ पर होती है। अगर पूँछ जल जायेगी, तो ममता जल जायेगी। भगवान् ने कहा—लक्ष्मण! जरा सोचो, अगर किसी व्यक्ति के सिर पर किसी की ममता की छाया हो, तो वह कितना प्रसन्न

हो जाता है। और जहाँ ये हजारों व्यक्ति मेरे सिर पर ममता की छाया किये हों, वहाँ मुझसे बढ़कर भाग्यशाली और कौन होगा ? देखो तो, ये बन्दर मुझसे कितना प्रेम करते हैं। ऊपर बैठने में इनका कोई अहंकार नहीं है। ये तो मेरी रक्षा के लिए मेरे सिर पर अपने ममत्व की छाया किये हुए हैं। और लक्ष्मण ! दूसरा लाभ यह है कि अगर नारद भूले-भटके इधर आ जायँ, तो उन्हें दिखायी दे जाय कि आज भी उनका श्राप मेरे सिर पर विद्यमान है। उन्हें अनुभव हो जायेगा कि उनका यह कथन कि 'परम स्वतंत्र न सिर पर कोई' ठीक नहीं है। मैं तो भक्तों के हाथ पराधीन हूँ। भक्त मुझे जैसा चलाते हैं, वैसा चलता हूँ।

अतः जो ब्रह्म वेदान्त में स्वतंत्र है, वही भक्ति में सर्वथा पराधीन है और यही भक्ति की विशेषता है, उसका माधुर्य है। गोस्वामीजी रामायण में कहते हैं—

निर्बान दायक क्रोध जा कर भगति अबसहि बसकरी।

—ब्रह्म और जीव दोनों सखा हैं। पहले ब्रह्म स्वतंत्र था, जीव परतंत्र दिखायी दे रहा था। अब जरा थोड़ी देर के लिए ब्रह्म परतंत्र हो जाय और जीव स्वतंत्रता का आनन्द ले सके इसी उद्देश्य से भक्तों ने अपनी इच्छा के अनुकूल भगवान् की लीला का गान किया। सारी रामायण उनकी अपनी है। इसी दृष्टि से गोस्वामीजी एक अनोखी बात कहते हैं। जब उनसे पूछा गया कि बताइये, आपके नाम-भगवान् कैसे जन्म लेंगे ? उन्होंने

कहा—हमारे नाम-भगवान् का जन्म कलियुग में होगा, न कि त्रेता में। और दूसरी विशेषता यह होगी कि जन्म कौशल्या के यहाँ न होकर, यशोदा के यहाँ होगा—

जीह जसोमति हरि हलधर से।

गोस्वामीजी कहते हैं कि प्रभो! मेरी जिह्वा ही यशोदा है तथा राम-नाम में जो रा और म हैं, वे हैं कृष्ण और बलराम। उन्होंने जिह्वा को कौशल्या न बनाकर यशोदा क्यों बनाया? गोस्वामीजी बड़े चतुर हैं। उन्होंने कहा—भगवन्! यदि मैं अपनो जिह्वा को कौशल्या बनाकर आपको राम के रूप में पाना चाहूँ, तो यह मेरे लिए बड़ी कठिन बात होगी। कौशल्या अम्बा और महाराज दशरथ ने शतरूपा और मनु के रूप में नैमिषारण्य में अट्ठाइस हजार वर्षों से भी अधिक समय तक तपस्या की, तब कहीं आपने उन्हें दर्शन दिये। और उसके बाद त्रेतायुग में जब वे कौशल्या और दशरथ के रूप में प्रकट हुए, तब वृद्धावस्था में आपको पाने के लिए उन्हें बड़ा यज्ञ करना पड़ा। तब कहीं जाकर आपने अपने आपको कौशल्या अम्बा के सामने प्रकट किया। किन्तु प्रभो! मेरी इस जिह्वा में न तो तप करने की शक्ति है, न यज्ञ करने की क्षमता है, और न इसमें जाग्रत् रहने की ही ताकत है। इसलिए मेरी यह जिह्वा कौशल्या न बनकर यशोदा ही बने तो ठीक है। गोस्वामीजी से पूछा गया—यशोदा ही क्यों? उन्होंने कहा कि जब यशोदा गहरी नींद में सो रही थीं, तब वसुदेवजी आकर कृष्ण

को सुला गये। सुला जाने के बाद भी जब यशोदा मैया की नींद नहीं खुली, तो कृष्ण ने उन्हें रो-रोकर जगाया। अत: कृपानिधे ! मेरी यह जिह्वा सो रही है। यह सम्भव हो सकता है कि आप स्वयं इस जिह्वा पर अवतार लेकर इसे जगायें। पर मुझमें यह सामर्थ्य नहीं कि मैं आपको प्रकट कर सकूँ। इसीलिए मेरी जिह्वा कौशल्या नहीं है। वह है यशोदा। कौशल्या बनने में तो मुझे प्रयास करना पड़ेगा और यशोदा बनने में आपको। और मैं यह नहीं चाहता कि प्रयास मुझे करना पड़े। मैं तो यही चाहता हूँ कि आप ही प्रयत्न करें।

भक्तों ने बड़ी अनोखी बातें कही हैं। उनके सिद्धान्त ही अनोखे हैं। मंत्रशास्त्र के ग्रन्थों में बहुधा मंत्रों के जगाने का उल्लेख पाया जाता है। अगर आप किसी मंत्रशास्त्री से पूछें कि भाई, हम बहुत दिनों से अमुक मंत्र का जाप कर रहे हैं, पर लाभ क्यों नहीं होता ? तो मंत्रशास्त्री कहेंगे कि पहले मंत्र को जगाओ और जब मंत्र जाग्रत् होगा, तब तुम्हें लाभ मिलेगा। गोस्वामीजी ने इस पर बड़े व्यंग्यात्मक रूप से कहा कि जिस मंत्र को हमें जगाना पड़े, ऐसा मंत्र हमें नहीं चाहिए। हमें तो वह मंत्र चाहिए, जो हमें जगाये। कृष्ण आये तो उन्होंने यशोदा को जगाया। यशोदा कृष्ण को जगाये यह कैसा मंत्र है ? राम-नाम का मंत्र ऐसा है, जो हमें जाग्रत् करता है, चैतन्य करता है। तो पहला परिवर्तन गोस्वामीजी ने नाम-रामायण में यह किया कि उन्होंने कौशल्या के

स्थान में यशोदा को जिह्वा बना दिया। और दूसरा यह कि उन्होंने नाम-रामायण का श्रीगणेश अहिल्या-उद्धार से किया। गोस्वामीजी लिखते हैं—

राम एक तापस तिय तारी।
नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥
रिषि हित राम सुकेतु सुता की।
सहित सेन सुत कीन्हि बिबाकी॥
सहित दोष दुख दास दुरासा।
दलइ नामु जिमि रवि निसि नासा॥

—भगवान् राम ने अवतार लेकर अहिल्या का उद्धार किया और हमारे नाम-भगवान् कोटि कुमति-रूप अहिल्या का उद्धार करते हैं। भगवान् राम ताड़का का वध करते हैं और नाम-भगवान् जीव के अन्त:करण की दुराशा का नाश करते हैं।

अब यहाँ एक विचित्रता प्रतीत होती है। रामायण में आता है कि भगवान् राम ने पहले ताड़का का वध किया, उसके बाद विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा की और तब फिर अहिल्या का उद्धार किया। किन्तु यहाँ नाम-रामायण में गोस्वामीजी ने क्रम बदल दिया है। पहले उन्होंने अहिल्या-उद्धार की बात कही है, फिर ताड़का के वध की। चाहिए तो उन्हें यह था कि पहले ताड़का-वध वाली पंक्ति लिखते और बाद में अहिल्या-उद्धार की। पर गोस्वामीजी बड़े सजग कवि हैं। उनका तात्पर्य यह था कि प्रभो! आपने अपने अवतार में ताड़का का

वध पहले किया और फिर अहिल्या का उद्धार किया, किन्तु मैं चाहता हूँ कि जब आप मेरे जीवन में आयें तो पहले उद्धार का कार्य करें और फिर बाद में वध करें। हमारे नाम-रामायण का श्रीगणेश वध से न होकर उद्धार से हो। इसलिए दया करके इस क्रम को जरा हमारे लिए उलट दें।

यह बात समझ में नहीं आती कि वाल्मीकि-रामायण सही है अथवा गोस्वामीजी की। और भी जितनी रामायणें हैं, उनमें अहिल्या-उद्धार की कथा किसी में पहले है तो किसी में बाद में। यह अपनी अपनी मान्यता है, अपना अपना रस है। गोस्वामीजी कहते हैं—'मैं यह नहीं चाहता कि आपका कठोर रूप पहले प्रकट हो। मैं तो यह कहूँगा कि आप कृपा करके हमारी कुमति-रूप अहिल्या का उद्धार पहले कर दीजिए और उसके बाद दुराशा-रूप ताड़का का नाश कीजिए।' इस प्रकार आदि से लेकर अन्त तक भक्तों और भगवान् की लीला में यही आनन्द है। भक्तों ने ब्रह्म को, जो कि वस्तुतः स्वतंत्र हैं, अपनी इच्छा के अनुसार जैसा चाहा वैसी आकृति दी, नाम दिया और उनको जैसा चलाना चाहा चलाया। किसी भक्त ने भगवान् को देखा और कह दिया—हम चाहते हैं कि आप नन्हे-से बालक बन जायँ, और भगवान् नन्हे-से बालक बन गये। अलग अलग भक्तों ने अलग अलग माँग रख दी। शंकरजी ने देखा और कहा कि आप बालक तो बन गये, पर मैं चाहता

हूँ कि आप जरा घुटनों के बल चलकर दिखला दें, और ब्रह्म बड़ी उदारता से घुटनों के बल चलने लगे। काकभुशुण्डिजी आये और उन्होंने कहा—मुझे तो अच्छा तब लगेगा, जब आप सुन्दर किलकारी लगायें और ब्रह्म किलकारी लगाने लगे। एक ने भगवान् से कहा—

पीत झगुलिया तनु पहिराई।
जानु पानि बिचरनि मोहि भाई॥

—जब भगवान् पीला वस्त्र पहनकर घुटनों के बल चलते हैं, तब मुझे अच्छा लगता है। दूसरे ने कहा—

पीत झीनि झगुली तन सोही।
किलकनि चितवनि भावति मोही॥

—मुझे तो पीले और महीन झगुली पहने हुए प्रभु की किलकारी और चितवन बड़ी प्रिय लगती है।

एक को भगवान् का घुटनों के बल चलना अच्छा लगता है, तो दूसरे को भगवान् की चितवन और किलकारी अच्छी लगती है। इतना ही नहीं, भगवान् तो इतने परतंत्र हैं कि भक्तों ने उन्हें जैसा चाहा कपड़ा पहना दिया। शंकरजी आये तो उन्होंने पीला कपड़ा पहना दिया। काकभुशुण्डिजी आये। उन्होंने कहा—आपके पीले कपड़े पहनने में मुझे कोई एतराज नहीं, पर मेरी एक शर्त है। वह क्या? 'पीत झीनि झगुली'—यह जो पीला कपड़ा है वह कुछ मोटा है। उसे उतार दीजिए और जरा पीले ही रंग का पतला कुरता पहन लीजिए। इसका तात्पर्य क्या? यही कि जो पीला वस्त्र है,

वह माया का प्रतीक है। वह आवरण है। वस्त्र जैसा होगा, वह शरीर को वैसा ही ढकेगा। भगवान् का यह पीताम्बर उनकी माया है। वे इससे अपने आप को ढके रहते हैं। कभी कोई अवसर आया, तो उतार भी देते हैं। एक दिन ऐसा ही अवसर आया था। गोस्वामीजी उत्तरकाण्ड में लिखते हैं—भगवान् राम से मिलने सनक-सनन्दन-सनत्कुमार आदि आये। भगवान् को ज्ञात हो गया कि ये चारों महात्मा मुझसे मिलने के लिए आ रहे हैं। उन्होंने तुरन्त श्री भरतजी से कहा—चलो, वाटिका में चलें। भगवान् इन महात्माओं से महल में नहीं मिले, वाटिका में मिले। इसका कारण यह था कि भगवान् को पिछली घटना की याद हो आयी। पिछली वार जब चारों महात्मा उनसे मिलने आये थे, तो द्वार-पालों को श्राप मिला था, क्योंकि उन्होंने इन्हें अन्दर जाने से रोका था। यहाँ भी महल में द्वारपाल रहेंगे ही। अतः ऐसी जगह चलकर मिला जाय, जहाँ उन्हें रोकनेवाला कोई न हो। और जब चारों महात्मा आये, तो प्रभु ने क्या किया?—

देखि राम मुनि आवत, हरषि दंडवत कीन्ह।

भगवान् श्रीराघवेन्द्र दंडवत् प्रणाम करते हैं और बैठने के लिए आसन देते हैं। कैसा आसन?—

स्वागत पूँछि पीत पट, प्रभु बैठन कहँ दीन॥

—अपना पीताम्बर, जिसे ओढ़े हुए थे, उतारकर बैठने के लिए बिछा देते हैं। जो जैसा चाहें, प्रभु उनसे वैसा ही

मिलते हैं। हम लोग भगवान् को देखने कम ही जाते हैं, और जब जाते भी हैं तो भगवान् की चमकदार माया को ही देखते रह जाते हैं। फिर भगवान् को कौन देखे ? जब हम लोग मन्दिर में दर्शन के लिए जाते हैं, तो कहते क्या हैं ?—कि आज भगवान् बड़े सुन्दर लग रहे हैं। तो क्या वे कल कम सुन्दर थे, जो आज अधिक सुन्दर हो गये? भगवान् की भी सुन्दरता घटती-बढ़ती है क्या? और सुन्दर क्यों लगते हैं? क्योंकि आज जरीवाला पीला कपड़ा पहने हुए हैं। कल सूती कपड़ा पहने थे तो कम सुन्दर थे, आज चमकदार पीला वस्त्र पहने हैं तो अधिक सुन्दर हो गये ! यदि कल कम रोशनी का बल्ब हो तो भगवान् कम सुन्दर लगेंगे और आज यदि रोशनी अधिक कर दी गयी तो अधिक सुन्दर हो जायेंगे ! यह भगवान् को न देखने का परिणाम है। इसका तात्पर्य यह है कि हम कपड़ा और रोशनी देखने जाते हैं, न कि भगवान् को। क्या कीजियेगा, भगवान् जहाँ रहेंगे, वहाँ उनकी माया रहेगी ही। और माया ऐसी चमकीली है कि बस, लोग उसे ही देखते रह जाते हैं। भगवान् को कौन देखे ? भगवान् को देखने का अभिप्राय क्या है ?

भगवान् राजसिंहासन पर आसीन होने के लिये स्नान आदि से निवृत्त होकर वस्त्र और आभूषण धारण करने लगे। इस पर गोस्वामीजी ने लिखा—

करि मज्जन प्रभु भूषण साजे।
अंग अनंग देखि सत लाजे॥

——उस समय भगवान् का दिव्य रूप देखकर सैकड़ों कामदेव लज्जित हो गये। एक सज्जन ने इस पर कहा—— इसका तात्पर्य यह है कि गोस्वामीजी भी यह स्वीकार करते हैं कि वस्त्र और आभूषण पहनने पर भगवान् अधिक सुन्दर लगे, अन्यथा उन्होंने यह बात पहले ही कही होती कि उनका रूप सैकड़ों कामदेवों को लज्जित कर रहा है। पर बात ऐसी नहीं है। भगवान् जब वस्त्र और आभूषण उतारकर वन जाने लगे, तब कैसे दिखे ? गोस्वामीजी कहते हैं——

कोटि मनोज लजावनिहारे।

——उनका रूप करोड़ों कामदेवों को लज्जित करने-वाला है। अतः वे जब वस्त्र और आभूषण धारण करते हैं तब सैकड़ों कामदेव लज्जित होते हैं और जब उतार देते हैं तब करोड़ों। अब यह सोचने की बात है कि भगवान् कब कम सुन्दर लगते हैं और कब अधिक। गोस्वामीजी का अभिप्राय यह है कि भगवान् हैं पूर्ण और संसार के जीव हैं अपूर्ण। अपूर्ण व्यक्ति वस्त्रों और आभू-षणों के द्वारा सुन्दर हो, यह सम्भव हो सकता है। किन्तु जो पूर्ण है, उसका सौन्दर्य क्या कभी कम या अधिक होगा ? यह तो तभी होगा जब भगवान् अपने आपको छिपाये रखना चाहते हैं और तब वे वस्त्रों और आभूषणों से अपने आपको ढक लेते हैं। किन्तु जब अपने आपको प्रकट करना चाहते हैं तब इन आवरणों को हटा देते हैं। वन जाते समय जब भगवान् राम ने वस्त्रों और आभूषणों

को उतारा तो कैसे दिखे ? गोस्वामीजी कवितावली-रामायण में लिखते हैं——

कागर-कीर ज्यौं भूषण चीर
सरीर लस्यो तजि नीर ज्यौं काई ।

——वस्त्र और आभूषण उतारने से भगवान् ऐसे लगने लगे, जैसा काई के हटने से सरोवर का जल दीखता है। वस्त्रों और आभूषणों की काई भगवान् की सुन्दरता को ढके हुई थी। उनको हटाने से प्रभु का पूर्ण सौन्दर्य प्रकट हुआ। उनका सौन्दर्य ही वस्त्रों और आभूषणों को धन्य बनाता है।

अत: जब चारों महापुरुषों को भगवान् ने देखा तो अपना पीताम्बर उतारकर बिछा दिया। भगवान् का तात्पर्य यह था कि महाराज ! आप लोग तो सदा वेदान्त में विचरण करते हैं। सदा नग्न रहते हैं, क्योंकि आप लोगों में भेद-वृत्ति का सर्वथा अभाव है। यह पीताम्बर मेरी माया है, आवरण है। जब कोई मेरे पास आता है तो यह मुझे छिपा लेता है। लेकिन आप लोगों के सामने हम क्या छिपायें। लीजिए यह जो आवरण है वही आपका आसन है, इस पर आप लोग विराजिये। हमारे और आपके बीच अब कोई आवरण नहीं। और तब ये चारों महात्मा चारों ओर भगवान् को ही अपने स्वरूप में विराजित देखते हैं। लेकिन वास्तविक आनन्द तो तब आता है, जब भगवान् काकभुशुण्डिजी से पूछते हैं—कहो, क्या चाहते हो ? पीला कपड़ा पहने रहें या उतार दें ?

काकभुशुण्डिजी बड़े चतुर हैं, वे कहते हैं--महाराज ! उतरवाने का काम तो वेदान्ती लोग करते हैं, मैं उतरवाऊँगा नहीं। लेकिन एक कृपा कीजिए। आप पीला वस्त्र पहनिये अवश्य, किन्तु जरा पतला पहनिये, ताकि पीले की आड़ में जो नीला है वह भी दिखायी देता रहे। ऐसा कपड़ा न पहन लीजिए कि केवल पीला ही पीला दिखायी दे, नीला नजर ही न आये। तात्पर्य यह है कि माया भले ही दिखायी दे, पर माया के आवरण से झलकता हुआ आपका दर्शन भी होता रहे। इतना ज्ञात रहे कि आपके सौन्दर्य को माया किसी प्रकार बाधित नहीं कर सकती। केवल माया ही माया दिखायी दे यह ठीक नहीं है।

अतः ये दो संकेत हैं--ज्ञानी कहते हैं कि भई ! आवरण को पूरी तरह दूर कर दो, क्योंकि यह वस्तु को पूरी तरह से ढक लेता है। और भक्त कहते हैं कि आवरण को अपनी इच्छा के अनुकूल, रस की सृष्टि के लिए स्वीकार किया जा सकता है। इस दूसरे आवरण को भक्त और भगवान् दोनों स्वीकार कर लेते हैं और स्वीकार करके मानो एक नया खेल खेलते हैं। जैसे आप किसी वस्तु को ढूँढ़नें जायँ और आप उसे ढूँढ़ न पायें, यह एक स्थिति है, और दूसरी यह कि आप मित्रों के साथ आँख-मिचौनी का खेल खेलने लगें, आपका मित्र छिप जाय और आप उसे ढूँढ़ने चलें। इस तरह, जो जान-बूझकर छिपा है, उसे ढूँढ़ने में भी एक नया रस

मिलता है। भक्त और भगवान् इसी तरह आँख-मिचौनी का खेल खेलते हैं। भगवान् अपनी लीलाओं के द्वारा भक्त की आकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिए नये नये खेल स्वीकार करते हैं। इससे बढ़कर उनकी उदारता और क्या हो सकती है? जरा सोचिये न, मनु ने भगवान् से प्रार्थना की। साक्षात् परमपिता परमेश्वर उनके सामने उपस्थित हुए और बोले---मनु! क्या चाहते हो? मनु को संकोच हुआ। कैसे कहें कि आप मेरे पुत्र बन जाइये? बोले--

दानि सिरोमनि कृपानिधि, नाथ कहउँ सति भाउ।
चाहउँ तुम्हहि समान सुत, प्रभु सन कवन दुराउ।।

---प्रभो! आपके-जैसा ही पुत्र चाहते हैं। वे सीधे नहीं कह पाये कि आपको पुत्र-रूप में देखना चाहते हैं। प्रभु हँसे और मुस्कराकर बोले— अब हम अपनी तरह का पुत्र कहाँ ढूँढ़ने जायँ। हम ही तुम्हारे पुत्र बन जाते हैं। और जगत्पिता भक्त की बात पूर्ण करने के लिए पुत्र बन गये। और ऐसे पुत्र बने कि दूसरा कोई ऐसी पितृभक्ति का क्या दर्शन करायेगा?

कुछ लोग आपस में झगड़ा करते हैं कि भक्ति श्रेष्ठ है या ज्ञान? पर भक्ति और ज्ञान विरोधी नहीं। वे एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों मिलकर एक दूसरे की सृष्टि करते हैं। इसके बारे में विवाद करना, एक दूसरे का खंडन-मंडन करना अनावश्यक है। एक दृष्टान्त ले लीजिए। मान लीजिए, आप एक नाटक देखने जाते हैं।

उस समय आपको ज्ञानी बनना चाहिए या भक्त ? जब नाटक देखें तो भक्त बनकर देखें और जब देखकर लौटें तो ज्ञानी बन जाना चाहिए। इसका तात्पर्य क्या ? मान लीजिए, आप सत्यवादी हरिश्चन्द्र का नाटक देखने गये। और आपके नगर का ही कोई आदमी हरिश्चन्द्र बना हुआ है। वह दिन भर बैठा झूठ बोला करता है और यहाँ हरिश्चन्द्र बना बैठा है। यदि आप उसका इस प्रकार ख्याल करेंगे, तो आपको नाटक में कोई आनन्द नहीं आयेगा। पूरे नाटक भर आप परेशान होंगे और परेशान होकर ही लौटेंगे। यदि आपको नाटक का सही आनन्द लेना है तो पूरे नाटक भर आप यह भूल जाइये कि वह आपके नगर का रहनेवाला झूठा व्यक्ति है। उतनी देर आप यही ख्याल करें कि हरिश्चन्द्र ही बैठे हुए अपना काम कर रहे हैं। पर एक बात ध्यान में रखिये कि आप उसे नाटक तक ही हरिश्चन्द्र मानिये। कहीं नाटक समाप्त होने के बाद भी आप उसे हरिश्चन्द्र मान बैठे और दूसरे दिन उसके पास पहुँचकर कहने लगे कि कल तो आपने विश्वामित्र को सारा राज्य ही दे दिया था, आज मुझे केवल दस हजार रुपये दे दीजिये, तो फिर समस्या खड़ी हो जायेगी। नाटक समाप्त हुआ कि यह भूल जाइये कि यही दाता हरिश्चन्द्र थे। यही भक्ति और ज्ञान का स्वरूप है। भगवान् राम ने ऐसी सुन्दर लीला की, पुत्र का ऐसा सुन्दर अभिनय किया कि संसार में आज तक कोई वैसा नहीं कर पाया।

लेकिन प्रभु कौतुकी हैं न ! जब रावण का वध हो गया, तो इन्द्र ने महाराज दशरथ को सूचना दी कि राम ने रावण का वध कर दिया। महाराज दशरथ का वात्सल्य तो अनुपम है। उन्होंने कहा—वाह, मेरे पुत्र ने रावण को मार डाला! इन्द्र को हँसी आयी कि महाराज दशरथ अभी तक इन्हें पुत्र ही समझ रहे हैं। मान लीजिए आपका कोई पुत्र कहे कि आप घोड़ा बन जाइये, तो आप घोड़ा बन जाते हैं। पर इससे आप घोड़ा हो नहीं जाते। बन जाने और हो जाने में कितना अन्तर है ! बन जाने का अर्थ है—अपने पुत्र की इच्छा पूर्ण करने के लिए घोड़े-जैसा आचरण करके दिखला दिया। घाड़े को तरह हाथ-पैर से चलने लगे और बालक को पीठ पर बिठा लिया। बालक को बड़ा सुख मिला, रस मिला। पर अगर बालक यदि सचमुच ही यह समझ ले कि यह घोड़ा है, तब तो बड़ा अनर्थ होगा। यह तो पिता की उदारता है कि बालक के कहने से चाहे जो बन जाय। लेकिन कभी कभी बड़ा कौतुक होता है ।

महाराज दशरथ ने कहा कि मैं राघवेन्द्र से मिलूँगा। इन्द्र ने कहा—पधारिये ! जिस समय महाराज दशरथ लंका में विमान से उतरे, तो क्या हुआ ?—

> तेहि अवसर दसरथ तहँ आये।
> तनय बिलोकि नयन जल छाये ॥
> अनुज सहित प्रभु बंदन कीन्हा।
> आसिरबाद पिताँ तब दीन्हा ॥

——देखते ही आँखों में आँसू भर आये कि पुत्र ने कितना महान् काम किया। रावण का वध कर दिया। प्रभु उठे, लक्ष्मणजी उठे और दोनों ने उन्हें प्रणाम किया। गोस्वामीजी का संकेत बड़ा गूढ़ है। यहाँ सीताजी के प्रणाम करने की बात नहीं आती है, यद्यपि वे उस समय लंका में थीं। प्रणाम केवल भगवान् राम और लक्ष्मणजी ही करते हैं। इसका अर्थ क्या? जब मनु के सामने भगवान् वरदान देने उपस्थित हुए थे, तो उस समय सीताजी साथ में थीं और अब जब दशरथजी को अन्तिम विदाई देने जा रहे हैं, तो सीताजी को साथ नहीं लाते, लक्ष्मणजी को लेकर आते हैं। इसका अभिप्राय क्या?

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर॥

——श्री किशोरीजी हैं साक्षात् पराभक्ति, लक्ष्मणजी है मूर्तिमान् वैराग्य और भगवान् राघवेन्द्र हैं अखण्ड ज्ञान। जब भगवान् राम मनु के सामने आये, तो भक्ति को साथ लेकर आये। पर अब जब नाटक समेटना है, भक्त की लीला खतम करनी है, तो भगवान् ने सोचा कि अब वैराग्य को लेकर चलना उचित है। भक्ति को लेकर जाना उचित नहीं।

भगवान् बहुत से कार्य जानकीजी को नहीं करने देते। संकेत आता है कि जिस समय प्रभु वन-पथ पर जाते हैं, तो उनके पैर में काँटा गड़ जाता है। इसी समय किशोरीजी प्रार्थना करती हैं कि आप वट-वृक्ष के नीचे

थोड़ा विश्राम कर लें। लक्ष्मण जल लेने गये हैं। जब तक वे आ जायँ, मैं आपकी धूल झाड़ दूँ। गोस्वामीजी ने लिखा—

जल को गये लक्खन हैं लरिका,
परिखौ, पिय! छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं,
अरु पाँय पखारिहौं भूभुरि डाढ़े।

प्रभु वृक्ष के नीचे बैठ जाते हैं। गोस्वामीजी यहाँ एक और विचित्र बात लिखते हैं—

'तुलसी' रघुबीर प्रिया स्रम जानि कै
बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े।

—भगवान् राम ने देखा कि जानकीजी अत्यन्त थक गयी हैं, तो एक काँटा लेकर अपने पैर में गड़ा हुआ काँटा निकालने लगे। पर काँटा निकलता ही नहीं है। बड़ा विलम्ब लग रहा है। किशोरीजी प्रभु से प्रार्थना करती हैं कि महाराज ! आप क्यों इतना कष्ट कर रहे हैं, काँटा मुझे दे दीजिए, मैं यह काँटा निकाल दू। प्रभु उनकी ओर बड़ी प्रेम-भरी दृष्टि से देखते हैं, मानो कहते हैं—नहीं-नहीं, और कोई भी सेवा तो मैं आपसे ले सकता हूँ, पर यह सेवा नहीं ले सकता। किशोरीजी पूछती हैं—क्यों ? क्या मैं यह सेवा नहीं कर सकती ? प्रभु मानो कहते हैं—आप कर तो सकती हैं, पर यह उचित न होगा?

—क्यों ?

—आप तो हैं साक्षात् पराभक्ति। आपका काम

है। लोगों को मेरे चरणों तक पहुँचाना और जो मेरे चरणों तक पहुँच ही गया है, उसे निकालकर दूर कर देना आपको शोभा नहीं देता। मैं भले ही इसे निकाल दूँ, पर अगर आप निकाल देंगी, तो फिर आपकी मर्यादा नहीं रह जायेगी !

प्रभु उन्हें काँटा नहीं निकालने देते, क्योंकि भक्ति का काम ही प्रभु के समीप पहुँचाना है।

गोस्वामीजी ने और एक मधुर संकेत किया है। जब किशोरीजी वन को जाने लगीं, तब आभूषण धारण करके चलीं। आभूषण क्यों धारण किया ? गोस्वामीजी कहते हैं कि जब वन जाने का प्रसंग आया, तो किशोरीजी अपने नाखूनों से जमीन कुरेदने लगीं। उनके चरणों के आभूषण बजने लगे। वे बजकर मानो कुछ कहने लगे। क्या कहने लगे ? गोस्वामीजी ने लिखा—

चारु चरन नख लेखति धरनी।
नूपुर मुखर मधुर कबि बरनी ॥
मनहुँ प्रेमबस बिनती करहीं।
हमहि सीय पद जनि परिहरहीं ॥

—वे नूपुर जानकीजी से प्रार्थना करते हैं कि देवि ! आप प्रभु के साथ वन को तो अवश्य जायेंगी, पर कृपा करके हमें अपने चरणों से अलग न कीजिएगा। जानकीजी ने कहा कि प्रभु तो तापसी वेश में जा रहे हैं, इसलिए हमें तुम्हें अलग करना ही पड़ेगा। आभूषणों ने कहा कि यदि आप हमें निकाल देंगी, तो प्रभु को भी यह

कहने को हो जायेगा कि आपको जंगल में बहुत कष्ट होगा। और यह कहकर वे आपके लिए पदचिह्न छोड़-कर जा सकते हैं। पर अगर आप हमें अपने चरणों से अलग नहीं करेंगी, तो आपको कहने को हो जायेगा कि जैसे मैंने आभूषणों को अपने पैरों से अलग नहीं किया है, उसी प्रकार आपको भी मुझे अपने चरणों से अलग करने का अधिकार नहीं है। तब प्रभु आपकी बात अमान्य नहीं कर पायेंगे। इसलिए हमारी प्रार्थना है कि आप कृपा कर हमें अपने साथ ले चलें। किशोरीजी इसीलिए आभूषणों का त्याग नहीं करती हैं।

और आज प्रभु लीला का संवरण करने जा रहे हैं। जब पुत्र बनने आये थे, तो जानकीजी को साथ लेकर आये थे। पर आज उनके साथ लक्ष्मणजी हैं, जानकीजी नहीं। गोस्वामीजी लिखते हैं—

अनुज सहित प्रभु बंदन कीन्हा।
आसिरबाद पिताँ तब दीन्हा॥

—महाराज दशरथ ने आशीर्वाद दिया। भगवान् राम ने कहा—

तात सकल तव पुन्य प्रभाऊ।
जीत्यों अजय निसाचर राऊ॥

—पिताजी ! यह आपके पुण्य का प्रताप है कि मैंने रावण का वध किया। महाराज दशरथ भगवान् राम की बात सुनकर बड़े प्रसन्न होते हैं। अब नाटक कितना ही अच्छा क्यों न हो, उसे भी कभी न कभी समाप्त

करना ही पड़ता है। भगवान् राम ने सोचा कि नाटक बढ़िया हो गया। अब समाप्ति का अवसर आ गया है। अब भक्ति की लीला नहीं, वैराग्य की लीला करनी है। नाटक का परदा गिरने ही वाला है। भगवान् क्या करते हैं? वे महाराज दशरथ को प्रेम-भरी दृष्टि से देखते हैं। भगवान् जब पहले मनु के सामने हुए थे, तो मनु ने प्रेम-भरी दृष्टि से भगवान् को देखा था—

चितवहिं सादर रूप अनूपा।
तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा॥

—मनु और शतरूपा भगवान् को बार-बार देखकर भी नहीं अघाते थे। अब आज भगवान् ने उन्हीं मनु-रूपी महाराज दशरथ को याद दिलाया कि महाराज! उस समय आपने प्रेम-भरी दृष्टि से मुझे एक बार देखा, और मैं आपका बालक बन गया। अब आज मेरे देखने का अवसर आया है। और जब प्रभु ने प्रेमपूर्वक महाराज दशरथ को देखा तो क्या हुआ?—

रघुपति प्रथम प्रेम अनुमाना।
चितइ पितहि दीन्हेउ दृढ़ ग्याना॥

—आँखें मिलीं। ज्ञान और वैराग्य की चरम सीमा आ गयी। जब वे आये थे, तो प्रभु ने उन्हें प्रणाम किया था और अब जब जाने लगे तब—

बार बार करि प्रभुहि प्रनामा।
दसरथ हरषि गए सुरधामा॥

—महाराज दशरथ ही भगवान् राम के चरणों में

बार-बार प्रणाम करके चले जाते हैं ।

इसका तात्पर्य यह है कि प्रभु इसी प्रकार दिव्य लीला करते हैं । वे भक्त की आकांक्षा को पूर्ण करने के लिए भक्ति की रसमयी लीला का विस्तार करते हैं तथा जब लीला का संकोच करना चाहते हैं, तो ज्ञानमयी दृष्टि द्वारा उसे समेट लेते हैं । यही भक्त और भगवान् की मधुमयी लीला का दिव्य रस है । वे भक्तों के लिए नाम और रूप धारण करते हैं । पर भक्तों को इतने से ही सन्तोष नहीं होता कि अरूप भगवान् रूपधारी हो गये अथवा अनाम प्रभु नामधारी हो गये । वे उनके साथ एक हो जाना चाहते हैं । वेदान्ती कहते हैं कि नाम और रूप बन्धन के कारण हैं, नाम और रूप से ऊपर उठ जाओ तो शान्ति प्राप्त हो जायेगी । भक्त उसे दूसरे ढंग से कहते हैं । उनका कहना है कि नाम और रूप तो केवल हमारे भगवान् का ही है, इसलिए यदि भगवान् के नाम और रूप में आकर्षण हो जाय, तो अपने नाम और रूप की याद अपने आप ही मिट जायेगी । यही भक्ति का माधुर्य है ।

(क्रमशः)

•

गीता प्रवचन – १४

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान।)

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥
न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

(कृष्ण) हे कृष्ण (आहवे) युद्ध में (स्वजनं हत्वा) स्वजनों की हत्या करके (श्रेयः) भला (च) भी (न) नहीं (अनुपश्यामि) देखता (न विजय) न तो विजय (न राज्यं च) और न राज्य (सुखानि च) और सुख (कांक्षे) [मुझे] चाहिए (गोविन्द) हे गोविन्द (नः) हमें (राज्येन) राज्य से (किं) क्या [करना] है (भोगैः) भोगों से (वा) अथवा (जीवितेन) जीवन से (किं) क्या [प्रयोजन] है ।

"हे कृष्ण! युद्ध में स्वजनों का वध करके मैं कोई कल्याण नहीं देखता । मुझे विजय नहीं चाहिए, राज्य भी नहीं चाहिए। मुझे सुख की कोई इच्छा नहीं है । हे गोविन्द! भला राज्य से हम क्या करना है? भोगों से हमें क्या लेना-देना है ? जीवन से ही भला हमारा क्या प्रयोजन है ?"

पिछली चर्चा में हमने अर्जुन की मनःस्थिति के सम्बन्ध में आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार किया था । यहाँ हम उसे कहते सुनते हैं कि वह विजय और राज्य के सुख का उपभोग नहीं करना चाहता । २८ वें श्लोक पर विचार करते हुए हमने कहा था कि अर्जुन को कौरव-पक्ष में अब शत्रु नहीं दिखायी पड़ते, बल्कि स्वजन देख पड़ते हैं । इस 'स्व' और 'पर' के भेद

के कारण अर्जुन मोह के भँवर में फँस गया है। और मोह की तीव्रता ऐसी है कि वह अब युद्ध भी नहीं करना चाहता।

ऐसा क्या कारण उपस्थित हो गया कि अर्जुन को विजय में कोई रुचि नहीं रही, राज्य और उससे प्राप्त होनेवाले सुख उसके लिए अचानक अलोने हो गये? अर्जुन के मन में भोगों, यहाँ तक कि, जीवन के प्रति यह विरक्ति कहाँ से आ गयी? अर्जुन अपने जीवन को भी असार समझने लगा है। ऊपर से देखने में यह वैराग्य-सा ही लगता है, क्योंकि जब किसी व्यक्ति के जीवन में वैराग्य का आगमन होता है, तो वह इसी प्रकार वर्तन करने लगता है। उसे इन्द्रियों के सुख-भोग नहीं सुहाते, उसमें अर्थ की लालसा नहीं दिखायी देती, यहाँ तक कि उसे अपने शरीर के प्रति भी छोह नहीं होता।

यह वैराग्य मनुष्य के जीवन में दो रास्तों से आता है। एक तो है ज्ञान, चिन्तन और विवेक का रास्ता। यह साधक का रास्ता है। साधना करते करते जब ज्ञान और चिन्तन परिपक्व होता है तथा विवेक सुदृढ़ बनता है, तब वैराग्य का भाव जीवन में उपस्थित हो जाता है। दूसरा रास्ता है हताशा, असफलता और अविवेक का। वैराग्य इस दूसरे रास्ते से भी मनुष्य के जीवन में घुसा करता है, और वास्तव में तो अधिकांश लोगों के जीवन में वैराग्य इसी दूसरे रास्ते से प्रविष्ट होता है। इस दशा में वह वैराग्य

यथार्थ न होकर 'मर्कट' या 'श्मशान' की संज्ञा प्राप्त करता है, क्योंकि वह अधिक टिकाऊ नहीं होता। श्रीराम-कृष्ण उदाहरण देते हैं। जैसे, किसी की घर में खटपट हो गयी। वह घर से यह कहकर निकल गया कि वह संन्यासी बनने हिमालय जा रहा है। घर में रोना-धोना मच गया। लड़के की बड़ी खोज की गयी, पर वह नहीं मिला। अचानक छः महीने बाद काशीजी से लड़के की चिट्ठी आ गयी—'तुम लोग चिन्ता मत करो, मुझे यहाँ नौकरी लग गयी है और मैं बड़े मजे से हूँ!'

यह 'मर्कट' या 'श्मशान' वैराग्य की उपमा है। जैसे, श्मशान में अपने प्रिय को चिता पर जलते देख हमें वैराग्य हो जाता है और संसार हमारे लिए कुछ समय के लिए असार बन जाता है। ऐसा वैराग्य, श्रीरामकृष्ण देव के शब्दों में, तपे तवे पर पड़नेवाली जल की बूँद के समान है, जो तवे का स्पर्श करते ही 'छन्' से भाप बनकर उड़ जाती है। दूसरे रास्ते से प्रवेश करनेवाला वैराग्य इसी कोटि का होता है।

अर्जुन का वैराग्य इसी दूसरी कोटि का था। उसका वैराग्य ज्ञान और विवेक पर आधारित न हो, मोह पर आधारित था। उसका कथन दर्शनीय है—

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥३४॥

(येषाम्) जिनके (अर्थे) लिए (नः) हमारे द्वारा (राज्य) राज्य (भोगाः) भोग (सुखानि च) और सुख (कांक्षितं) कांक्षित हैं (आचार्याः) आचार्यजन (पितरः) ताऊ-चाचे (पुत्राः) पुत्र (तथा एव च) और उसी प्रकार (पितामहाः) पितामह (मातुलाः) मामा (श्वशुराः) श्वशुर (पौत्राः) पोते (श्यालाः) साला (तथा) एवं (सम्बन्धिनः) [अन्य] सगे-सम्बन्धी (ते) वे (इमे) ये (प्राणान्) प्राणों (धनानि च) और धन को (त्यक्त्वा) छोड़कर (युद्धे) रण में (अवस्थिताः) खड़े हैं।

"हम जिनके लिये राज्य, भोग और सुख आदि की इच्छा करते हैं, वे ये हमारे गुरु, ताऊ, चाचा, लड़के, दादा, मामा, ससुर, पोते, साले और अन्य सम्बन्धी जन अपने धन और प्राणों को त्यागकर युद्ध मे खड़े हैं।"

यद्यपि अर्जुन के इस कथन से उसक आसक्तिजन्य मोह ही प्रकट होता है, तथापि इसमें एक तत्त्व निहित है और वह है दूसरों के लिये जीना। अर्जुन कहता है कि उसे अपने लिये राज्य लेकर क्या करना है ? मानव के मन का जब विकास होता है, तो वह अपने शरीर की क्षुद्र सीमा में बँधा रहना नहीं चाहता। वह कुछ उदार होता है। जब वह बच्चा होता है, तब केवल अपने लिये जीता है। जैसे जैसे बड़ा होता है, वह अपने स्वार्थ को लाँघकर परिवार के लिये जीने का प्रयास करता है। इससे भी उच्चतर अवस्था वह है, जब वह परिवार को लाँघकर समाज के लिये जीने की चेष्टा करता है। इस स्तर पर समाज के बृहत्तर लाभ के समक्ष वह अपने व्यक्तिगत या पारिवारिक लाभ को तिलांजलि दे देता है।

ऐसे ही लोग नरपति होते हैं। अर्जुन एक नरपति था। नृपति होने के नाते उसे प्रजा के, समाज के स्वार्थ को बड़ा बनाना था। वह धर्म की रक्षा के लिये कौरवों से युद्ध करने को विवश होता है। यदि वह कौरवों के अन्याय का प्रतिकार न करे, तो अपने राजोचित कर्तव्य से च्युत होता है। पर युद्धभूमि में अपनी आँखों से अपने निकट सम्बन्धियों को मृत्यु के लिये तैयार खड़े देख, उसके अवचेतन मन में दबे आसक्ति के संस्कार इस तीव्रता से उभर आते हैं कि वह कह उठता है—

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

(मधुसूदन) हे मधु के संहारक (घ्नतः अपि) मारा जाकर भी (त्रैलोक्यराज्यस्य) त्रिलोकी के राज्य के (हेतोः) लिये (अपि) भी (एतान्) इन्हें (हन्तुं) मारने की (न) नहीं (इच्छामि) इच्छा करता (महीकृते) पृथ्वी के लिए (किं नु) फिर क्या बात।

"हे मधुसूदन! मैं इन सम्बन्धियों के द्वारा मारा जाकर भी त्रिलोकी का राज्य पाने के लिए भी इन्हें मारना नहीं चाहता, फिर इस पृथ्वी के लिए क्या बात ?"

अर्जुन अपने प्रतिपक्ष के स्वजनों से मारा जाना पसन्द करता है, पर उन पर हथियार उठाना उचित नहीं समझता। जब त्रिलोकी के राज्य की उसके सामने कोई कीमत नहीं, तो धरती के राज्य की भला उसे क्या परवाह है ? जो अर्जुन कौरवों को मजा चखाने के लिये उत्सुक था, उसके हृदय में उनके प्रति प्रेम का यह दरिया अचानक कहाँ से उमड़ने लगा ? दो स्थितियाँ हो सकती

हैं—या तो अर्जुन होश में है और सचमुच उसके मन में सांसारिक सुख-भोगों के प्रति उदासीनता आ गयी है, या फिर वह एक प्रकार की बेहोशी की अवस्था में है, जब उसे स्वयं ही नहीं मालूम कि वह क्या बोल रहा है। इन दोनों में से वह कौनसी स्थिति में है, इसका निर्णय अगला श्लोक देता है।

यहाँ पर श्रीकृष्ण के लिये 'गोविन्द' और 'मधुसूदन' इन दो नामों का प्रयोग हुआ है। पहले नाम के सन्दर्भ में महाभारत में निम्नलिखित श्लोक प्राप्त होता है—

देवदेवः क्षितिं गत्वा कृष्णं दृष्ट्वा मुदान्वितः।
गोविन्द इति तं ह्युक्त्वा ह्यभ्यषिंचत् पुरन्दरः॥

—देवाधिदेव इन्द्र ने भूतल पर जाकर जब श्रीकृष्ण को (गोवर्धन धारण किये) देखा, तब उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने श्रीकृष्ण को 'गोविन्द' नाम देकर उनका ('गवेन्द्र' पद पर)अभिषेक किया।

इस प्रकार गोवर्धन धारण करके गौओं तथा व्रजवासियों की रक्षा करने के कारण उनका नाम 'गोविन्द' हुआ तथा मधु नामक दैत्य का वध करने के कारण वे 'मधुसूदन' नाम से परिचित हुए।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतान् आततायिनः॥३६॥

(जनार्दन) हे जनार्दन (धार्तराष्ट्रान्) धृतराष्ट्र के पुत्रों को (निहत्य)मारकर (नः) हमें (का) क्या (प्रीतिः) सुख (स्यात्) होगा (एतान्) इन (आततायिनः) आततायियों को (हत्वा)

मारकर (अस्मान्) हमे (पापम्) पाप (एव) ही (आश्रयेत्) आश्रय बनायेगा।

"हे जनार्दन! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें भला क्या सुख मिलेगा ? उल्टे इन आततायियों को मारकर हमे पाप ही हाथ लगेगा।"

दस्युओं को त्रास या पीड़ा देने के कारण श्रीकृष्ण 'जनार्दन' कहलाते हैं। महाभारत (उद्योग० ७०।६) में कहा है—'दस्युत्रासात् जनार्दनः'। अर्जुन का एक उलाहना-भरा आशय यह भी हो सकता है कि आप जन (जनता) का अर्दन (विनाश) करने के आदी रहे हैं, अतएव आपको इस युद्ध में कोई खराबी नहीं देख पड़ती। पर जब मैं इसमें सब प्रकार की हानि देख रहा हूँ, तो फिर इस पाप से क्यों न बचूँ ?

हमने ऊपर कहा था कि अर्जुन होश में है अथवा बेहोशी में, इसका निर्णय यह श्लोक करता है। तो निर्णय क्या है ? यही कि अर्जुन एक प्रकार की बेहोशी में है। बेहोशी में मनुष्य असम्बद्ध बातें करता है, उसकी बातें स्वयं एक-दूसरे को काटती हैं। तो, इस श्लोक में असम्बद्धता कौनसी दिखायी पड़ती है ? यही कि एक ओर अर्जुन कौरवों को 'आततायी' स्वीकार करता है और दूसरी ओर कहता है कि इन आततायियों को मारकर पाप ही हाथ लगेगा। हम अपनी एक पिछली चर्चा में कह चुके हैं कि धर्मशास्त्र के विधान के अनुसार आततायियों को मारना पाप नहीं, बल्कि पुण्य है; अधर्म नहीं, बल्कि धर्म है। मनुस्मृति

(३५०) राजा का कर्तव्य निर्धारित करते हुए कहती है—

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।।

—भले वह गुरु हो, एक बालक हो या वृद्ध, अथवा बहुपाठी विद्वान् ब्राह्मण हो, लेकिन यदि वह आततायी के रूप में आता है, तो बिना किसी हिचक के उसका वध कर देना चाहिए।

यदि कोई पूछे कि आततायी के लक्षण क्या हैं, तो वसिष्ठस्मृति (३।१६) उत्तर देते हुए कहती है—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदाराहरश्चैव षडेते आततायिनः ।।

—आग लगानेवाला, जहर देने वाला, हाथ में शस्त्र लेकर मारने आनेवाला, धन लूट लेनेवाला, जमीन पर जबरदस्ती कब्जा कर लेनेवाला तथा पत्नी का अपहरण करनेवाला—ऐसे छः प्रकार के आततायी होते हैं।

अर्जुन कौरवों को आततायी मानता है। वह यह भी जानता है कि कौरवों में आततायी के एक या दो लक्षण नहीं, पूरे छहों लक्षण विद्यमान हैं— वारणावत के लाक्षागृह में आग लगा ही दी; भीम को जहर दे मूर्छित अवस्था में नदी में फेंक ही दिया; पाण्डवों के वनवास के के समय दुर्योधन ने अपने अनुचरों को आदेश दिया था कि पाण्डव जहाँ कहीं दिख जायँ, उनका वध कर दो; धन लूट ही लिया था; पाण्डवों के राज्य को भी हड़प ही लिया था और वन में जयद्रथ के द्वारा द्रौपदी का

अपहरण भी करा ही दिया था। पर यह सब जानकर भी अर्जुन कहता है––'इन आततायियों को मारकर हमें पाप ही हाथ लगेगा !'

इसीलिए कहा कि अर्जुन प्रलाप कर रहा है। वह सन्निपात के रोगी के समान हो गया है। वह बेहोशी में है। कर्तव्य और अकर्तव्य का विवेक भुला बैठा है।

एक भाई ने मुझसे तर्क किया कि अर्जुन की इस वृत्ति को आप 'मोह' क्यों कहते हैं ? जैसे सम्राट् अशोक को कलिंग-विजय में भारी जन-हानि देखकर वैराग्य हो गया और उनमें अहिंसा-वृत्ति जाग गयी, उसी प्रकार आप अर्जुन की स्थिति को भी क्यों नहीं स्वीकार कर लेते ? उनके मतानुसार अर्जुन को इतना दयनीय चित्रित करना उचित नहीं। इसका उत्तर मैंने यही दिया कि अर्जुन की स्थिति सम्राट् अशोक की स्थिति से पूर्णतः भिन्न है। सम्राट् अशोक के हृदय में विजयश्री प्राप्त करने के बाद अहिंसा-वृत्ति जगी थी, जबकि अर्जुन युद्ध के पहले ही अपने वैराग्य की घोषणा करता है। दूसरे, अशोक के हृदय-परिवर्तन में स्व और पर का सम्बन्ध नहीं था, जबकि अर्जुन स्व और पर के भेद से परिचालित होकर ही युद्ध से विरत होना चाहता है। अर्जुन के दीखनेवाले वैराग्य के पीछे केवल उसकी स्वजनों के प्रति आसक्ति है। मोहग्रस्त मनुष्य कभी अपनी कमजोरी को स्वीकार नहीं करता, बल्कि वह कर्तव्य-च्युति को सद्-विचार का जामा पहनाने लगता है, जैसा कि अर्जुन ने

किया।

एक किस्सा है। एक न्यायाधीश था। उसने जाने कितने अपराधियों को फाँसी की सजा दी थी। किन्तु एक दिन जब उसी का लड़का हत्या के अपराध में उसी की अदालत में पेश किया गया, तो न्यायाधीश का स्वर बदल गया। वह दलीलें देने लगा कि 'फाँसी की सजा अमानवीय है। मनुष्य को ऐसी कठोर सजा देना शोभा नहीं देता। इससे अपराधी की सुधरने की आशा नष्ट हो जाती है। खून करनेवाले ने भावना और आवेश में, जोश और उत्तेजना में खून कर डाला। परन्तु उसकी आँखों पर से खून का जनून उतर जाने पर उस व्यक्ति को संजीदगी के साथ फाँसी के तख्ते पर चढ़ाकर मार डालना मानवता के लिए बड़ी लज्जा की बात है, बड़ा कलंक है, आदि आदि।' यदि न्यायाधीश के सामने उसका अपना लड़का न होकर अन्य कोई होता, तो उसने बेहिचक उसे फाँसी की सजा दे दी होती। पर लड़के के प्रति उसका ममत्व उसके कर्तव्य-पालन में आड़े आ रहा था।

ठीक यही दशा अर्जुन की है। उसका स्वजनों के प्रति ममत्व ही उसके इस आपात्-वैराग्य का कारण है। उसने अपनी आँखों पर अविवेक का चश्मा चढ़ा लिया है। तभी तो आततायियों के हनन में वह पाप देखता है! कहता है—

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

(तस्मात्) अतएव (स्वबान्धवान्) अपने स्वजन (धार्तराष्ट्रान्) धृतराष्ट्र के पुत्रों को (वयं) हम (हन्तुं) मारने के लिये (न) नहीं (अर्हाः) उचित हैं (हि) क्योंकि (माधव) हे माधव (स्वजनं) कुटुम्बियों को (हत्वा) मारकर [वयं] [हम] (कथं) कैसे (सुखिनः) सुखी (स्याम) होंगे।

"अतएव हे माधव ! अपने कुटुम्बी धृतराष्ट्र-पुत्रों को मारना हमें उचित नहीं है, क्योंकि अपने स्वजनों को मारकर हम कैसे सुखी होंगे?"

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

(यद्यपि) भले ही (लोभोपहतचेतसः) लोभ से जिनका चित्त घिर गया है (एते) ये लोग (कुलक्षयकृतं) कुल के नाश से उत्पन्न होनेवाले (दोषं) दोष को (च) और (मित्रद्रोहे) मित्र से द्रोह करने में (पातकं) पाप को (न) नहीं (पश्यन्ति) देख रहे हैं (जनार्दन) हे जनार्दन (कुलक्षयकृतं) कुल के नाश से उत्पन्न होनेवाले (दोषं) दोष को (प्रपश्यद्भिः) अच्छी तरह से देखते हुए (अस्माभिः) हमारे द्वारा (अस्मात् पापात्) इस पाप से (निवर्तितुं) दूर होना (कथं) क्यों (न ज्ञेयं) न सीखा जाय।

"भले ही लोभ से बुद्धिभ्रष्ट हुए ये कौरवगण कुल के नाश से उत्पन्न होनेवाले दोष को तथा मित्रों से द्रोह करने के फलस्वरूप उपजनेवाले पाप को नहीं देख रहे हैं, तो भी हे जनार्दन! कुलक्षय से होनेवाले दोष को अच्छी तरह से जाननेवाले हम लोगों को इस पाप से बचने का उपाय क्यों नहीं खोजना चाहिए?"

अर्जुन का यह तर्क उपर्युक्त न्यायाधीश के तर्क के समान है। यदि पारिपार्श्विक घटनाओं को विचार के दायरे

में न लिया जाय, तो न्यायाधीश का तर्क सही जँचता है। पर जब हम देखते हैं कि न्यायाधीश का सारा विचार अपने अपराधी लड़के को केन्द्रित करके है और यह कि उसकी युक्ति अपने लड़के के प्रति आसक्ति से प्रभावित है, तो फिर उसके तर्क में हमारी आस्था नहीं रह जाती। अर्जुन ने कुलक्षय की जो बात कही और अब उससे उत्पन्न दोषों को वह जो गिनाने जा रहा है, वे सब के सब सिद्धान्त की दृष्टि से तो सही हैं, पर जब इस सबके पीछे हम उसकी मानसिकता को देखते हैं, तो ये ही सारी बातें गलत हो जाती हैं।

संसार को देखने के दो तरीके हैं—एक तो वह जिसे हम 'आत्मनिष्ठ' (Subjective) दृष्टिकोण कहते हैं और दूसरा 'पदार्थनिष्ठ' (Objective) दृष्टिकोण कहलाता है। पदार्थ के अपने कुछ विशिष्ट गुण होते हैं जो उस पदार्थ के सन्दर्भ में तो अपरिवर्तनशील हैं, पर व्यक्ति-भेद से उनके महत्त्व और उपादेयता में भिन्नता हुआ करती है। उदाहरणार्थ, हम सोने की एक डली लें। सोने की दृष्टि से सोने के जो गुण हैं, वे परिवर्तित नहीं होते, पर विभिन्न व्यक्ति उस डली को अलग अलग दृष्टिकोण से देखेंगे—कोई उसमें हार देखेगा, तो कोई कंगन। जिसे कर्णफूल बनाने की इच्छा होगी, वह उस डली में कर्णफूल देखेगा। इस प्रकार, सोने के साथ रागात्मक सम्बन्ध में व्यक्ति-भेद से भिन्नता हो जाती है। यदि ये रागात्मक सम्बन्ध हटा दिये जायँ, तो व्यक्ति

निरपेक्ष दृष्टि से सोने को देखने में समर्थ होगा। उसे सोना सोना ही दिखायी देगा। हम अपनी इस बात को थोड़ा और स्पष्ट करें।

कल्पना करें कि एक व्यक्ति जरूरत में पड़कर अपना सोने का गहना बेचने के लिये दुकान पर गया है। इस व्यक्ति के लिये भले गहने का रूप सत्य हो, पर दुकानदार के लिये तो सोना ही सत्य है। वह रूप की तनिक परवाह नहीं करता। अगर गहना हाथ से छूटकर नीचे गिर जाय, तो बेचनेवाला लपककर उसे उठा लेगा और देखेगा कि कहीं वह क्षत तो नहीं हुआ। दुकानदार अविचलित रहता है। गहने के मुड़ने और टूटने से उसका कोई प्रयोजन नहीं। गहना साबूत हो तो भी उसकी दृष्टि में उसकी उतनी ही कीमत होगी, जितनी कि उसके मुड़ने या टूट जाने पर।

एक और उदाहरण ले लें। हमारा कोई स्वजन काल-कवलित हो गया और हम उसका दाह-संस्कार करने श्मशान गये। वहाँ चिता सजायी और मृत देह को उस पर लिटा दिया। फिर आग लगा दी। बीच में हम देखते हैं कि मृत देह का एक अंग आग के बाहर आ गया है। कोई व्यक्ति लकड़ी लेकर उस अंग को आग में ठेलता है और हम कह उठते हैं––'अरे, जरा धीरे ठेलो!' अचानक यह उद्‌गार कैसे निकला? अंग तो मुर्दे का है, मुर्दा है। पदार्थनिष्ठ दृष्टि से देखें तो उसे जोर से ठेलें या धीरे से, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। किन्तु जब हम आत्मनिष्ठ

दृष्टि से देखते हैं, तो मुर्दे से हमारा सम्बन्ध जुड़ जाता है और हम उसके अंग को जोर से ठेला जाते नहीं देख सकते।

हमारा सारा मोह तब शुरू होता है, जब परिस्थितियों को उनके वास्तविक स्वरूप में न देखकर हम उनके साथ अपना रागात्मक सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। इससे व्यक्ति निरपेक्ष नहीं रह पाता, और इसीलिए जीवन की सारी भूलें हुआ करती हैं। तब हमारा सन्तुलन उपर्युक्त न्यायाधीश के समान, अर्जुन के समान बिगड़ जाता है और जाँच के हमारे सारे मापदण्ड ही बदल जाते हैं। गीता इसी असन्तुलन को ठीक करने की शिक्षा देती है।

अगली चर्चा में हम देखेंगे कि अर्जुन कुलक्षय के कौन-कौन से दोष गिनाता है और उन दोषों का स्वरूप क्या है।

(क्रमशः)

भय ही मृत्यु है। भय से पार हो जाना चाहिए। आज से ही भयशून्य हो जाओ। अपने मोक्ष तथा परहित के निमित्त आत्मोत्सर्ग करने के लिये अग्रसर हो जाओ। थोड़ीसी हड्डी तथा मांस का बोझ लिये फिरने से क्या होगा?

—स्वामी विवेकानन्द

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्चन्द्र पेंढ़ारकर, एम. ए.

(१) उचित दण्ड

एक बार प्रभु रामचन्द्रजी ने लक्ष्मण से कहा—"बाहर जाकर देखो तो, शायद कोई दुखी प्राणी न्याय-प्राप्ति की इच्छा से आया है।" लक्ष्मण ने जाकर देखा तो उन्हें एक कुत्ता दिखायी दिया। वे उसे रामचन्द्रजी के पास ले आये। राजा राम द्वारा उसके दुखी होने का कारण पूछने पर वह कुत्ता बोला, "हे राघव ! आप ही हमारे कर्ता-धर्ता और रक्षणकर्ता हैं। मैं आपके पास न्याय पाने की इच्छा से आया हूँ। बात यह है कि स्वार्थ-सिद्ध नामक एक ब्राह्मण ने अकारण ही मेरे सिर पर प्रहार किया है।" प्रभु रामचन्द्र के समक्ष उस ब्राह्मण को प्रस्तुत किया गया। वह बोला, "हे राघव ! मैं क्षुधित था। सामने कुत्ते को बैठा देख मैंने उससे हटने को कहा। उसके न हटने पर मुझे क्रोध आ गया और मैंने इस पर प्रहार किया ! महाराज ! मुझसे अवश्य ही अपराध हुआ है, आप मुझे जो चाहें, दण्ड दें।"

राजा राम ने अपने सभासदों से ब्राह्मण को दण्ड देने बाबत परामर्श किया। सबने एक स्वर से निर्णय दिया—"ब्राह्मण अवध्य होता है, तथापि आप तो परमात्मा के महान् अंश हैं, अतः आप ही उचित दण्ड दे सकते हैं।" इसी बीच कुत्ता बोला, "प्रभो ! मेरी इच्छा है कि आप इसे कलिंजर का मठाधीश बना दें।" यह सुनकर सबको आश्चर्य हुआ, क्योंकि तब तो ब्राह्मण को भिक्षा-

वृत्ति से छुटकारा मिल जाता और मठाधीश होने के बाद उसे सारी सुख-सुविधाएँ प्राप्त हो जातीं। रामचन्द्र जी ने कुत्ते से ब्राह्मण को मठाधीश बनाने का प्रयोजन पूछा। इस पर कुत्ता बोला, "राजन्! मैं भी पिछले जन्म में कलिंजर का मठाधीश था। मुझे वहाँ बढ़िया-बढ़िया पकवान खाने को मिलते थे। यद्यपि मैं पूजापाठ करता, धर्माचरण करता, तथापि मुझे कुत्ते की योनि में जन्म लेना पड़ा। इसका कारण यह है कि जो व्यक्ति देव, बालक, स्त्री और भिक्षुक आदि के लिए अर्पित धन का उपभोग करता हैं, वह नरकगामी होता है। यह ब्राह्मण अत्यन्त क्रोधी और हिंसक स्वभाव का तो है ही, साथ ही मूर्ख भी है,अतः इसको यही दण्ड देना उचित है।"

(२) भ्रातृधर्म

गहन वन से तृषार्त पाण्डव गुजर रहे थे। अकस्मात् उन्हें एक सरोवर दिखायी दिया। भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव जल पीने के पूर्व ही मृत्यु का ग्रास बन गये। कारण यह था कि एक यक्ष ने उनसे प्रश्न किये थे, किन्तु उन्होंने उस ओर ध्यान नहीं दिया और यक्ष का कोपभाजन बनने के कारण उन्हें मृत्यु प्राप्त हुई। इतने में युधिष्ठिर आये और उनसे भी यक्ष ने प्रश्न किये, जिनके युधिष्ठिर ने संगत उत्तर दे दिये। तब यक्ष ने प्रसन्न हो कहा, "तुम जल पीने के अधिकारी हो। मेरी इच्छा है कि तुम्हारे चारों भ्राताओं में से किसी एक को जीवन-दान दूँ। बोलो, मैं किसे पुनर्जीवित करूँ?"

प्रश्न बड़ा ही विचित्र था। युधिष्ठिर को चारों भाई एक समान थे, तथापि एक क्षण भी सोचे बिना वे बोले, "यक्षश्रेष्ठ ! आप नकुल को ही जीवन-दान दें।"

यक्ष हँस पड़ा, बोला, "धर्मराज ! कौरवों से युद्ध में भीम की गदा और अर्जुन का गाण्डीव बड़ा ही उपयोगी सिद्ध होगा। इन दो सगे भाइयों को छोड़कर नकुल का जीवन क्यों चाहते हो ?"

धर्मराज बोले, "यक्षश्रेष्ठ ! हम पाँचों भ्राता ही माताओं के स्नेह-चिह्न हैं। माता कुन्ती के पुत्रों में से मैं शेष हूँ, किन्तु माद्री माँ के तो दोनों ही पुत्र मर चुके हैं। अतः यदि एक के ही जीवन का प्रश्न हो, तो माद्री माँ के नकुल का ही पुनर्जीवन इष्ट है।"

यक्ष ने सुना,तो भाव-विह्वल हो बोला,"युधिष्ठिर! तुम धर्म-तत्त्व के ज्ञाता हो, अतएव मैं चारों भाइयों को जीवन देता हूँ।"

(३) **सच्चा सेवक**

एक बार सीता देवी ने हनुमानजी की निष्काम सेवा से प्रसन्न हो उन्हें अपने गले का हीरे का हार इनाम में दिया। हनुमानजी उस हार को लेकर एक तरफ गये और हार में से एक एक हीरा निकाल-निकालकर, उन्हें फोड़कर, टुकड़ों को हाथ में ले आकाश की ओर मुंह कर देखने लगे। लोगों ने जो देखा, तो वे खिलखिलाकर हँसने लगे। आखिर उनमें से एक ने हनुमानजी से इस बारे में पूछा, तो उन्होंने उत्तर दिया, "मैं हीरों को फोड़-

फोड़कर यह देख रहा हूँ कि इसमें कहीं राम हैं या ये बिना राम के ही हैं। यदि इनमें राम हों, तो मेरे योग्य हैं, अन्यथा ये निस्सार हैं।" और तब लोगों को हनुमान जी के सच्चे सेवाभाव की प्रतीति हुई और उनके मुख से 'धन्य-धन्य' शब्द निकल पड़े।

(४) सच्चा भक्त

भगवान् श्रीकृष्ण का सहयोग प्राप्त होते रहने के कारण अर्जुन को अहंकार हो गया कि वास्तव में श्रीकृष्ण का भक्त वही है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन के इस अहंकार को जान लिया और वे उसके साथ टहलने के लिए गये। रास्ते में उन्हें एक ब्राह्मण दिखायी दिया, जिसकी कमर में तलवार लटकी थी और वह हाथ से सूखी घास तोड़-तोड़कर खा रहा था। उसका यह कृत्य देख अर्जुन को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। उसने ब्राह्मण से प्रश्न किया, "आप तो अहिंसक दिखायी देते हैं, शायद जीव-हिंसा के डर से सूखी घास खा रहे हैं। मगर मेरी समझ में यह नहीं आया कि आप यह तलवार क्यों धारण किये हुए हैं?"

ब्राह्मण बोला, "यह तलवार मैंने चार व्यक्तियों को दण्ड देने के लिए रखी है।" अर्जुन ने साश्चर्य पूछा, "वे चार व्यक्ति कौन हैं?"

ब्राह्मण ने उत्तर दिया, "एक तो है दुष्ट नारद, जो मेरे प्रभु का कोई ख्याल न कर उन्हें सदैव भजन-कीर्तन से जगाये रखता है। दूसरी है धृष्ट द्रौपदी, जिसने मेरे प्रभु को तब पुकारा था, जब वे भोजन का ग्रास ले रहे

थे; दुर्वासा ऋषि के श्राप से उसकी मुक्ति कराने हेतु उन्हें भोजन छोड़कर जाना पड़ा; यही नहीं, उसने प्रभु को जूठा भोजन भी खिलाया। तीसरा है हृदयहीन प्रह्लाद, जिसने मेरे प्रभु को गरम तेल की कड़ाही में प्रविष्ट कराया, हाथी के पैरों-तले कुचलवाया और खम्भे में से प्रकट होने के लिए विवश किया।"

"और चौथा कौन ?" अर्जुन ने कुतूहलवश पूछा।

"चौथा है वदमाश अर्जुन," उस ब्राह्मण ने आगे कहा, "उसकी धृष्टता तो देखो कि स्वयं प्रभु को उसने अपने सेवक के रूप में सारथी बनाया।"

प्रभु के प्रति ब्राह्मण की भक्ति और प्रेम देखकर अर्जुन का सारा अहंकार दूर हो गया। वह कृष्ण से बोला, "मैं अभी तक स्वयं को ही परम भक्त समझता था, किन्तु अब मालूम हुआ कि यही ब्राह्मण आपका सच्चा भक्त है।"

(५) सौ वर्ष कैसे जियें ?

एक बार धृतराष्ट्र ने विदुरजी से प्रश्न किया, "महात्मन् ! मैंने यह पाया कि प्रायः सभी वेदों में पुरुष की आयु सौ वर्ष की बतायी गयी है, किन्तु मैंने यह अनुभव किया कि बिरले ही लोग इस आयु तक पहुँच पाते हैं। सौ वर्ष की आयु प्राप्त करने के पूर्व ही व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है। क्या इससे वेद में लिखा हुआ असंगत सिद्ध नहीं होता ?" विदुरजी ने इसका उत्तर निम्न श्लोक में दिया—

अतिमानोऽतिवादश्च तथा त्यागो नराधिप।

क्रोधश्चात्मविधित्सा च मित्रद्रोहश्च तानि षट् ।।
एत एवासयस्तीक्ष्णाः कृन्तन्त्यायूंषि देहिनाम् ।
एतानि मानवान् घ्नन्ति न मृत्युर्भद्रमस्तु ते ।।

——"हे राजन् ! आपका कल्याण हो ! अत्यन्त अभिमान, अधिक बोलना, त्याग का अभाव, क्रोध, अपना ही पेट पालने की चिन्ता (स्वार्थ) और मित्रद्रोह, ये छः तीखी तलवारें देहधारियों की आयु को काटती हैं। ये ही मनुष्यों का वध करती हैं, मृत्यु नहीं। अर्थात् जो मनुष्य इन छः बातों से बचकर रहे, निश्चय ही वह सौ वर्ष की आयु तक जी सकेगा।"

(६) स्वाभिमान

अंगद जब प्रभु रामचन्द्रजी के राजदूत बनकर लंकापुरी गये, तब उनकी आयु कुल चौबीस वर्ष की थी। युवा अंगद को देखकर रावण को हँसी आयी, बोला, "लगता है, राम की सेना में कोई दाढ़ी-मूँछ वाला विद्वान् नहीं, जो उन्होंने एक छोकरे को यहाँ भेज दिया है।"

अंगद का स्वाभिमान फड़क उठा। उन्होंने कहा, "भगवान् राम को यदि यह मालूम होता कि रावण-जैसा विद्वान् भी विद्वत्ता की परख किसी के वेश से करता है, तो निःसन्देह उन्होंने मेरे स्थान पर किसी दढ़ियल बकरे को ही भेजा होता !"

और यह सुन रावण को विश्वास हो गया कि यह छोकरा 'छोकरा' नहीं है, उसे जान-बूझकर ही यहाँ भेजा गया है। (क्रमशः)

❖

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

ब्रह्मचारी देवेन्द्र

(गतांक से आगे)

'डिट्रायट फ्री प्रेस' ने अपने १५ फरवरी के अंक में इस भाषण को विस्तृत रूप से प्रकाशित करते हुए लिखा--"अपने देश के रीति-रिवाजों पर कल रात प्रसिद्ध संन्यासी स्वामी विवेकानन्द का व्याख्यान यूनिटेरियन चर्च में हुआ, जो श्रोताओं से भरा हुआ था। उनकी प्रांजल और सुन्दर शैली को श्रोताओं ने बहुत पसन्द किया और वे आदि से अन्त तक व्याख्यान को अत्यन्त ध्यानपूर्वक सुनते रहे। समय-समय पर उन्होंने करतल ध्वनि की गड़गड़ाहट से अपना अनुमोदन भी व्यक्त किया। उनका यह भाषण न केवल शिकागो की धर्ममहासभा में दिये गये प्रसिद्ध भाषण की तुलना में अधिक लोकप्रिय था, किन्तु वह अत्यधिक रोचक भी था; विशेषतया उन स्थलों पर जहाँ वक्ता महोदय प्रवचनात्मक स्थलों से हटकर अपने देशवासियों की कतिपय आध्यात्मिक विशेषताओं का प्रांजल वर्णन करने लगते थे। धार्मिक और दार्शनिक (और अनिवार्यत: आध्यात्मिक) विषयों में ये प्राच्य-बन्धु सर्वाधिक प्रभावी हैं। प्रकृति के विराट् नैतिक विधान पर विवेकपूर्ण विचार करने से जो मानवीय कर्तव्य स्थिर होते हैं, उनके वर्णन में उनका चढ़ता-उतरता कोमल स्वर तथा उनका रोमांचकारी ढंग पैगम्बरों-जैसा हो जाता है। उनके स्वर का यह कोमल उतार-चढ़ाव

उनकी जातिगत विशिष्टता है। वे बड़े संयम के साथ बोलते हैं। पर जब उन्हें अपने श्रोताओं के समक्ष कोई नैतिक सत्य उपस्थित करना होता है तब उनकी वाग्मिता अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है।

"यह कुछ विचित्र-सा जान पड़ा कि इस प्राच्य संन्यासी का, जो भारत में ईसाई-धर्मसंघ द्वारा किये गये धर्म-प्रचार-कार्य का इतना खुलकर विरोध करते हैं तथा जिनके अनुसार भारत में नैतिकता संसार में सबसे अधिक है, परिचय बिशप निण्डे द्वारा कराया गया जो विदेशी ईसाई मिशनों के कार्य से जून में चीन जा रहे हैं। बिशप महोदय दिसम्बर तक बाहर रहने की अपेक्षा करते हैं। यदि वे और अधिक रुके, तो भारत जायेंगे।...

"देश के जातीय विभाजन, लोगों के रीति-रिवाज तथा भाषाओं की भिन्नता आदि की व्याख्या करते हुए स्वामीजी ने कहा कि वहाँ प्रधानतः चार उत्तरी भाषाएँ हैं और चार दक्षिणी। किन्तु सर्वत्र एक ही सामान्य धर्म है। तीस करोड़ आबादी वाले राष्ट्र की चतुर्थ-पंचमांश जनता हिन्दू है। और हिन्दू एक विचित्र व्यक्ति होता है। वह हर काम धार्मिक ढंग से करता है। वह धार्मिक ढंग से खाता है, धार्मिक ढंग से सोता है, प्रातःकाल धार्मिक ढंग से जागता है, धार्मिक ढंग से सत्कर्म करता है और धार्मिक ढंग से ही बुराई भी करता है। इस अवसर पर वक्ता ने अपने भाषण का प्रमुख नैतिक स्वर

झंकृत करते हुए कहा कि उनके स्वदेशवासियों का यह विश्वास है कि निःस्वार्थ-भावना ही शुभ है तथा स्वार्थ की सारी भावनाएँ अशुभ हैं। अपने सान्ध्य-भाषण में उन्होंने इसी बात पर बारम्बार बल दिया, और इसे उनके भाषण का सार कहा जा सकता है। हिन्दू का तर्क है कि घर बनाना स्वार्थ का काम है, अतः वह ईश्वर की उपासना और अतिथिदेव के सत्कार के लिए घर बनाता है। अपने लिए भोजन बनाना स्वार्थ की बात है, इसलिए वह दीनों के लिए भोजन बनाता है। यदि कोई भूखा अतिथि आ जाय तो वह अपने लिए सबसे अन्त में परोसेगा, और यह भावना सारे देश में व्याप्त है। कोई भी व्यक्ति भोजन और आश्रय की याचना कर सकता है, और हर घर के द्वार उसके लिए खुल जायेंगे।

"जाति-प्रथा का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। किसी भी व्यक्ति की जीविका पैतृक होती है। बढ़ई बढ़ई के रूप में उत्पन्न होता है, सुनार सुनार के रूप में, श्रमिक श्रमिक के रूप में, और पुरोहित पुरोहित के रूप में। किन्तु यह तो अपेक्षाकृत एक नयी सामाजिक कुप्रथा है, क्योंकि इसका अस्तित्व केवल एक हजार वर्षों का ही है। इस देश के या अन्य देश के लोगों को यह अवधि अधिक प्रतीत हो सकती है, पर भारत में समय की यह अवधि बहुत बड़ी नहीं जान पड़ती। दो प्रकार के दान का यहाँ विशेष रूप से आदर होता है—विद्या-दान और जीवन-दान। किन्तु विद्या का दान

प्रधान है। किसी की जान बचाना बहुत अच्छा है, पर ज्ञान देना उससे भी अच्छा है। द्रव्य के लिए शिक्षा देना बुरी बात है और ऐसा करनेवाले पर विद्या का धन से विनिमय करने का कलंक लगता है।...

"वक्ता ने देश भर में पूछा है कि सभ्यता की परिभाषा क्या है और उन्होंने यह प्रश्न कई अन्य देशों में भी किया है। कभी-कभी लोगों ने यह उत्तर दिया कि जो कुछ हम हैं वही सभ्यता है। इस परिभाषा पर अपना भिन्न मत व्यक्त करने की आज्ञा माँगते हुए उन्होंने कहा, 'हो सकता है कि कोई राष्ट्र समुद्र की लहरों को जीत ले, भौतिक तत्त्वों पर नियंत्रण प्राप्त कर ले, जीवन की उपयोगितावादी समस्याओं का विकास उच्चतम सीमा तक कर ले, फिर भी हो सकता है वह यह अनुभव न कर पाये कि सर्वोच्च सभ्यता उसी व्यक्ति में है जिसने स्वार्थ को पराभूत करना सीखा है। पृथ्वी के किसी अन्य देश की अपेक्षा यह भावना भारत में अधिक व्यापक है, क्योंकि वहाँ भौतिक सुखों को आध्यात्मिक स्थिति से निम्न माना गया है। वहाँ का व्यक्ति हर जीवन्त वस्तु में आत्मा के प्रकाश को देखने की चेष्टा करता है, और इसी निमित्त वह प्रकृति का अध्ययन करता है। इसीलिए वहाँ दुर्जय धैर्य के साथ निर्दय भाग्य की प्रत्येक स्थिति को सहने की उच्च प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है। साथ ही वहाँ अन्य किसी भी जाति की अपेक्षा अधिक आध्यात्मिक शक्ति और ज्ञान की पूर्ण चेतना

हैं। इसीलिए इस देश और जाति का अस्तित्व बना हुआ है। यहाँ ज्ञान की ऐसी अनन्त धारा बही है,जो दूर-दूर के चिन्तकों का ध्यान आकृष्ट करती रही है और उन्हें अपने कन्धों को कष्ट पहुँचानेवाले पार्थिव भार से मुक्त करने की प्रेरणा देती रही है। उस प्राचीन राजा ने, जिसने ईसा से २६० वर्ष पूर्व यह आज्ञा निकाली थी कि अब रक्तपात न हो, युद्ध न हो, और जिसने सैनिकों के स्थान पर धर्म-शिक्षकों की सेना भेजी थी, बड़ी बुद्धिमत्ता का कार्य किया था, यद्यपि इससे भौतिक रूप से देश की हानि भी हुई। यद्यपि यह देश पाशविक बल-प्रयोग के द्वारा दूसरों को पराभूत करनेवाले बर्बर राष्ट्रों के अधीन है, तथापि उसकी आध्यात्मिकता अक्षय है और उसे कोई नहीं छीन सकता। वहाँ की जनता की नम्रता ईसा-जैसा तेज है, जो दारुण भाग्य की मर्म-पीड़ाओं और दुःखों को सहती हुई अपनी आत्मा को उज्ज्वलतर गन्तव्य की ओर बढ़ाती रही है। ऐसे देश को विचारों का उपदेश देने के लिए ईसाई धर्म-प्रचारकों की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उनका धर्म एक ऐसा धर्म है, जो लोगों को भगवान् के सभी जीवों के प्रति––चाहे वे मनुष्य हों या पशु––सौम्य, मधुर, विचारशील और प्रेमशील बनाता है।'

वक्ता ने बताया कि नैतिक दृष्टि से भारत के सामने संयुक्त राज्य या संसार का कोई भी अन्य देश बौना है। यह अच्छा होगा कि धर्मप्रचारक भारत जाकर वहाँ के पवित्र जल का पान करें और देखें कि वहाँ की

पवित्रात्माओं के जीवन का वहाँ के महान् समाज पर क्या प्रभाव पड़ा है।

"इसके बाद वक्ता ने विवाह की स्थिति का वर्णन किया और बताया कि प्राचीनकाल में जब सहशिक्षा प्रणाली फल-फूल रही थी तब स्त्रियों को कैसी सुविधाएँ दी जाती थीं। भारतीय ऋषियों के विवरणों में महिला-ऋषियों का भी स्थान है। ईसाई धर्म में सभी पैगम्बर पुरुष ही हुए हैं, जबकि भारत के धर्मग्रन्थों में महाप्राणा स्त्रियाँ भी प्रमुख स्थान रखती हैं। गृहस्थ की उपासना में पाँच लक्ष्य होते हैं। उनमें से एक विद्या पढ़ना और पढ़ाना है। दूसरा मूक जीवों की उपासना है। अमरीकियों के लिए इस दूसरी उपासना को समझना और यूरोपियनों के लिए इस भावना का मूल्यांकन करना कठिन है। अन्य राष्ट्र पशुओं की सामूहिक रूप से हत्या करते हैं तथा एक-दूसरे के घात में रहते हैं और इस प्रकार वे रक्त के सागर में निवास करते हैं। एक यूरोपियन ने कहा था कि भारत में पशु-हत्या न होने के पीछे यह मान्यता है कि उनमें पूर्वजों की आत्माएँ होती हैं। पर ऐसी मान्यता तो एक बर्बर राष्ट्र के योग्य है, जो पाशविकता से एक पग आगे न बढ़ पाया हो। तथ्य यह है कि यह तर्क भारत के कुछ नास्तिकों ने अहिंसा और आत्मा के पुनर्जन्म के वैदिक सिद्धान्त को युक्तिहीन सिद्ध करने के लिए दिया था। यह धर्म की मान्यता कभी नहीं रही। यह तो एक निरे भौतिकवादी मत की धारणा है। वक्ता

ने मूक पशुओं की उपासना का बड़ा सजीव वर्णन किया। आतिथ्य की भावना को--भारत की स्वर्णिम भावना को--वक्ता ने एक कथा के द्वारा चित्रित किया। दुर्भिक्ष के कारण एक ब्राह्मण, उसकी स्त्री, उसके पुत्र और उसकी पुत्रवधू को कई दिनों से भोजन नहीं मिल पाया था। परिवार का प्रधान बाहर निकला और काफी खोज के बाद उसे थोड़े से जौ के दाने मिले। वह उसे घर लाया और उसके चार भाग किये। वह छोटासा परिवार उसे खाने ही वाला था कि द्वार पर दस्तक सुनायी पड़ी। बाहर एक अतिथि था। अन्न के चारों भाग उसको अर्पित किये गये और वह अपनी भूख शान्त करके चला गया। किन्तु इधर उसका सत्कार करनेवाले वे चारों व्यक्ति भूख से मर गये। भारत में यह कथा यह बताने के लिए कही जाती है कि आतिथ्य के पवित्र नाम पर किस सीमा तक जाना चाहिए।

"वक्ता ने अपना भाषण प्रभावपूर्ण ढंग से समाप्त किया। आद्योपान्त उनका भाषण सरल था; पर जब वे कल्पना में बह जाते थे तब उनका वर्णन मनोरम कवित्व से भर उठता था। ऐसा लगता है कि प्राच्यबन्धु प्रकृति के सौन्दर्य के निकटस्थ और सचेत निरीक्षक रहे हैं। आत्यन्तिक आध्यात्मिकता उनकी एक ऐसी विशेषता है जिसका स्पर्श उनके श्रोताओं को भी होता है, क्योंकि वह आध्यात्मिकता जड़ और चेतन सभी वस्तुओं के प्रति उनके प्रेम के रूप में प्रकट होती है। साथ ही, समन्वय

और परोपकार का जो दैवी विधान है, उसके रहस्यमय कार्य-कलापों के प्रति पैनी अन्तर्दृष्टि के रूप में भी उनकी वह आध्यात्मिकता अभिव्यक्त होती है ।"

स्वामीजी के मिशनरियों सम्बन्धी स्पष्ट विचारों ने तथा श्रोताओं द्वारा तुमुल हर्ष-ध्वनि पूर्वक उनके भाषण की प्रशंसा ने बिशप निण्डे को तिलमिला दिया । उन्हें अपने नीचे की जमीन खिसकती हुई नजर आयी ।

उन्होंने प्रारम्भ में प्रार्थना की थी कि विधर्मी (हिन्दू) एक दिन प्रकाश पाने में समर्थ होंगे और यह अपेक्षा की थी कि हिन्दुओं के विचित्र रीति-रिवाजों के बारे में कुछ मनोरंजक बातें तथा ईसाई मिशनरियों के कार्य के बारे में प्रशंसा सुनने मिलेगी, किन्तु यहाँ स्वामीजी की प्रखर आलोचना ने उनकी आशा पर पानी फेर दिया । उनकी आँखों के सामने उसी सभा-मंच पर स्वामीजी ने श्रोताओं का हृदय जीत लिया । यह उन पर एक बड़ा आघात था । भारी सदमा तो उन्हें तब पहुँचा, जब 'डिट्रायट फ्री प्रेस' ने उनके प्रति कटाक्ष करते हुए स्वामीजी के व्याख्यान की भूरि भूरि प्रशंसा की । इस कटाक्ष ने उन्हें परेशानी में डाल दिया । वे चर्च के एक अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्ति थे और हो सकता था कि उन्हें अपने ही लोगों की आलोचना का शिकार होना पड़ता । इसलिए उन्होंने तुरन्त स्पष्टीकरण के रूप में एक पत्र 'डिट्रायट फ्री प्रेस' के सम्पादक के नाम लिखा जो १६ फरवरी को प्रकाशित हुआ ।

अपने प्रति की गयी आलोचना का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा—"मैं अपनी ओर से तथा जनता की ओर से, जो ईसाई मिशन के कार्यों में विश्वास रखती है, स्पष्टीकरण देना आवश्यक समझता हूँ। मेरे मित्रों ने मुझ से वक्ता का परिचय देने का अनुरोध किया था और मुझे यह विश्वास दिलाया था कि ऐसी कोई बात नहीं कही जायेगी जिससे ईसाई धर्म का अपमान होता हो। मैंने अनुमान लगाया था कि हमें संसार के एक महान् दिलचस्प देश के रीति-रिवाजों के बारे म मनोरंजक बातें सुनने को मिलेंगी, जो हर प्रकार के धार्मिक पूर्वाग्रहों से मुक्त होंगी। मुझसे कहा गया कि चूँकि शहर में मैं ही शायद ऐसा व्यक्ति हूँ जिसने भारत को देखा है, अतः यह उपयुक्त होगा कि मैं वक्ता का परिचय दूँ। मैंने मिस्टर कानन्द जैसे माने हुए विद्वान् तथा योग्य व्यक्ति के प्रति यह शिष्टाचार प्रदर्शित करने में कोई हिचक महसूस नहीं की। किन्तु उनके भाषण के आगे बढ़ने पर जब मैंने देखा कि यह तो हिन्दुओं के गुणों को बढ़ा-चढ़ाकर बताने का तथा ईसाई देशों की नैतिकता को गिराने का एक योजनाबद्ध प्रयास है, तो मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। इसके पीछे मिशन की अनुपयोगिता और व्यर्थता सिद्ध करने का अभिप्राय प्रकट होता है। यदि मैंने भाषण की दिशा को पहले ही भाँप लिया होता, विशेषकर उसके कुछ अमैत्रीपूर्ण कटु उद्गारों को, तो मैं आत्मसम्मान की रक्षा के लिए वक्ता का परिचय देना अस्वीकार कर देता!"

आगे स्वामीजी द्वारा वर्णित भारतीय रीति-रिवाजों को अतिशयोक्तिपूर्ण बताते हुए बिशप महोदय ने भारत के दुर्गुणों का उल्लेख करते हुए अन्त में लिखा—"मैंने विद्वान् वक्ता के परिचय के समय जो कहा था, उसे पुनः दुहराता हूँ। यद्यपि धार्मिक आदर्श तथा धार्मिक कर्तव्यों की धारणा के बारे में उनसे मेरा बहुत मतभेद है, तथापि मैं उस दिन के लिए आशा और प्रार्थना करता हूँ जब प्रभु की प्रेरणा हम सबको—संसार की समस्त जातियों और देशों के लोगों को निर्मल प्रकाश प्रदान करेगी और हम सब इसे प्रत्यक्षतः आँखों से देखेंगे तथा उस सर्वमान्य दैवी मुक्तिदाता की सेवा में पूर्णतया संलग्न हो जायेंगे।"

और इस तरह युद्ध प्रारम्भ हो गया। समाचार-पत्रों के कालम स्वामीजी के विरोध और समर्थन में भरे जाने लगे। नगर के प्रबुद्ध वर्गों में यह सामान्य चर्चा का विषय हो गया। घर के बैठकखानों में, क्लबों और गिरजाघरों में यह वाद-विवाद जोरों से चलने लगा।

(क्रमशः)

*

यह कभी न सोचना कि आत्मा के लिए कुछ असम्भव है। ऐसा कहना ही भयानक नास्तिकता है। यदि पाप नामक कोई वस्तु है तो यह कहना ही एकमात्र पाप है कि मैं दुर्बल हूँ अथवा अन्य कोई दुर्बल है।

—स्वामी विवेकानन्द

शिवाजी पर स्वामी विवेकानन्द के विचार-४

डा० एम. सी. नांजुन्दाराव

(गतांक से आगे)

(लेखक स्वामी विवेकानन्द के प्रिय भक्तों में से थे। लेखक से वार्तालाप के प्रसंग में स्वामीजी ने इतिहास के ऐसे कई महत्त्वपूर्ण पृष्ठों को उजागर किया है जो विदेशी इतिहासकारों के द्वारा स्वार्थ की सिद्धि हेतु विकृत कर दिये गये थे। प्रस्तुत लेखमाला में स्वामीजी के द्वारा छत्रपति शिवाजी के जीवनवृत्त सम्बन्धी तथ्य एक नये रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत हुए हैं। इस संस्मरणावली में स्वामीजी की इतिहास में गहरी पैठ दर्शनीय है। यह लेखमाला मूल अंग्रेजी में 'वेदान्त केसरी' नामक मासिक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। इसके ऐतिहासिक महत्त्व को देखते हुए हम हिन्दी-भाषी पाठकों के लाभार्थ इसे धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। प्रस्तुत लेख 'वेदान्त केसरी' के अगस्त १९१५ के अंक से साभार गृहीत हुआ है।—सं.)

शिवाजी के जीवन में ऐसी अनेक घटनाएँ घटी हैं, जिनसे पता चलता है कि उनमें अपने सुविख्यात गुरु के प्रति उत्कट भक्ति और अपार श्रद्धा थी। यह भी विदित होता है कि स्वामी रामदास ने राष्ट्र के उत्थान और देश के पुनर्जागरण के लिए शिवाजी पर अनुपम प्रभाव डाला था। इन घटनाओं का वर्णन करने के पहले यह जानना भी प्रासंगिक होगा कि रामदास किस महत्कार्य के लिए अवतरित हुए थे तथा उन्होंने उस युग में राष्ट्र को कौनसा सन्देश दिया था। हम पहले कह आये हैं कि तत्कालीन मराठा-सन्तों ने अपने प्रवचनों एवं प्रबोधनों

के द्वारा मराठा-मेधा को धार्मिक जड़ता की स्थिति से उबारकर अपूर्व कार्य किया और उन्हें हिन्दू-धर्म के उत्साहपूर्ण परिपालन के लिए प्रवृत्त किया। इस प्रकार उन्होंने मराठों में राष्ट्रीय चेतना के जागरण और उन्नयन में बड़ी सहायता की। किन्तु स्वामी रामदास ने अपने प्रख्यात शिष्य शिवाजी की सहायता से, शताब्दियों से नितान्त उपेक्षित हिन्दू-जीवन और उसकी संस्थाओं के पुनर्गठन के महायज्ञ का अधिक सक्रियता एवं गम्भीरता के साथ समापन किया। जैसा कि एक लेखक ने 'मराठा' में कुछ समय पहले लिखा था, रामदास का व्यक्तित्व शक्तिशाली और प्रभावपूर्ण था। राष्ट्रीय पुनर्जागरण के कार्य में उन्होंने महान् एवं विविधोन्मुखी गुणों का प्रदर्शन किया था। उन्होंने साधु के निःस्पृह दृष्टिकोण में क्षत्रिय का तेज, दार्शनिक की दूरदर्शिता और राजनीतिज्ञ की शक्तिशाली व्यावहारिक मेधा को मिला दिया। वे अपने प्रभावकारी व्यक्तित्व और शक्तिशाली उपदेशों से लोगों को मुग्ध कर दिया करते तथा कभी कभी पोंगापन्थी भी उनकी बेमन से प्रशंसा कर दिया करते। तुकाराम, एकनाथ, नामदेव आदि भी समान रूप से महान् थे, किन्तु वे भक्ति-भाव और नैतिक शुद्धता का उपदेश देने में ही तल्लीन रहा करते थे। सामान्यतया उन्होंने समाज का परित्याग कर दिया था, पर रामदास ने उसका आलिंगन किया। अन्य सन्तों को उनकी धार्मिक भाव-भूमि से अलग करना तथा धार्मिक लीक से हटाकर

चलाना एक दुष्कर कार्य था। रामदास आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से काफी ऊँचे थे, पर उनके मन में इतनी नमनीयता भी थी कि वे अत्यन्त उत्कट रूप से सामाजिक आवश्यकता की ओर ध्यान दे सकते थे और 'नर्म' हिन्दुओं पर अत्याचार करनेवाले मुसलमानों से निरन्तर धर्मयुद्ध करने के लिए प्रेरित भी कर सकते थे। जिस प्रकार एक बुद्धिमान् पिता अपने बच्चों को नियंत्रण में रखता है, उसी प्रकार वे हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत परस्पर टकरानेवाले तत्त्वों को सहज ढंग से व्यवस्थित करने में समर्थ थे। यही तो इस जन्मजात लोकनायक की खूबी थी। उनकी अशान्त विशाल मेधा आध्यात्मिक ध्यान की ऊँचाई से समाज के स्तर तक भी उतर आती, वे राष्ट्र की ज्वलन्त समस्याओं पर गहराई से विचार भी कर लेते और फिर वे उसी सहजता और नमनीयता के साथ मन के उन राज्यों में लौट भी जाया करते, जिनमें वे वर्षों की अक्लान्त तपश्चर्या के द्वारा प्रविष्ट हुए थे। अनेक शताब्दियों के अन्तराल के बाद ही ऐसे महापुरुषों के दर्शन होते हैं। अतएव इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि हजारों लोग सातारा के समीप उनके निवास-स्थान पर उनका प्रवचन सुनने के लिए टूट पड़ते थे।

ये महाराष्ट्र में राष्ट्रवाद के दिन थे। जैसा हमने पहले देखा है, एक बार राष्ट्रीयता और धार्मिकता समानार्थी बन जाते हैं। सन्त रामदास की स्वाभिमानी राष्ट्रीय भावना देश के पतन के विविध चिह्नों को देखकर अत्यन्त

वेग से ऊपर उठी। तत्कालीन जनता के जीवन और आचरण में यह पतन देखा जा सकता था। रामदास से पहले भी अनेक सज्जनों ने भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के प्रति मुसलमानों के द्वारा किये गये अपमान को देखकर आक्रोश प्रकट करना प्रारम्भ कर दिया था। और उनका यह आक्रोश निष्क्रिय न होकर पूर्णतः सक्रिय था। अतएव इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इस युग में महाराष्ट्र की राष्ट्रीय स्वतंत्रता का प्रातःकालीन सूर्य तोरना की पहाड़ियों पर अपनी प्रथम रश्मियाँ बिखेर रहा था (शिवाजी ने तोरना के किले पर सर्वप्रथम विजय पायी थी), तथा इसी समय सन्त रामदास अपनी तीर्थयात्रा समाप्त कर महाराष्ट्र की ओर बढ़ रहे थे। वे एक ऐसे शक्तिशाली धार्मिक संघ की स्थापना करना चाहते थे, जो जनता के हृदय में राष्ट्रधर्म के प्रति श्रद्धा का संचार कर सके।

शंकराचार्य के युग के उपरान्त भारत में धर्मप्रचार के लिए किसी शक्तिशाली संगठन के निर्माण का विचार कभी नहीं किया गया। रामदास का संघ आचार्य शंकर के संघ से अनेक बातों में भिन्न था। शंकराचार्य का कार्य-क्षेत्र पण्डितों के बीच था। उनका उद्देश्य विद्वानों के एक ऐसे दल का निर्माण करना था, जो तत्कालीन अवैदिक सम्प्रदायों एवं धर्मों से भलीभाँति लोहा ले सके। पर सन्त रामदास बुद्धि को आश्वस्त या भ्रमित करना नहीं चाहते थे। उनका उद्देश्य लोगों के हृदयों को जीतना

था। उन्होंने जनता के बीच कार्य करने का प्रयास किया। उनका संघ समस्त हिन्दुओं को एक सूत्र में संगठित करना चाहता था। वह समूचे भारतीय प्रायद्वीप में फैल गया। सैकड़ों मठों की स्थापना हो गयी तथा उत्साही, विद्वान् एवं प्रशिक्षित शिष्यों पर देश के विभिन्न भागों की जनता को जगाने का कार्य सौंपा गया। एक बार फिर संसार के व्यावहारिक ज्ञान को हेय मानकर तिरस्कृत नहीं किया गया और इसका प्रमाण हमें इस महान् संघ के प्रमुख धर्म-ग्रन्थ 'दासबोध' में प्राप्त होता है, जहाँ शिष्यों को राज्य और धर्म के सम्बन्ध में सूक्ष्म से सूक्ष्म हिदायतें दी गयी हैं।

जैसा पहले बताया जा चुका है, उनके संघ का उद्देश्य था भगवद्‌भक्ति का प्रसार, छोटे छोटे सम्प्रदायगत विरोधों का परिहार और हिन्दू-धर्म के सभी रूपों के सामान्य सिद्धान्तों पर बल देकर हिन्दुओं को संगठित करना। उस युग में राष्ट्रधर्म की प्रतिष्ठा की बड़ी आवश्यकता थी। उससे हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत परस्पर, विरोधी तत्त्वों को एक सूत्र में बाँधने में बड़ी सहायता मिली। यह आन्दोलन राष्ट्रीय स्वाधीनता के आन्दोलन से भी संयुक्त और सम्पुष्ट था। इस सन्धि-काल में मराठों के चरित्र का गठन करने के लिए, उन्हें महान् राजनीतिक उत्थान के पुरोधा बनने की क्षमता प्रदान करने के लिए, राज्यों को जीतने तथा शून्य से एक महान् राज्य की रचना करने के योग्य बनाने के लिए देशभक्ति

और धर्म का पारस्परिक सम्मिलन घटित हुआ था। धार्मिक नेता आत्यन्तिक रूप से देशभक्त भी थे और राजनीतिक नेता उत्कट रूप से धार्मिक भी; साथ ही इस युग की मराठा-देशभवित ने धर्म और राजनीति में ही व्यस्त न रहकर समग्रगत राष्ट्रीय जीवन की पुनर्रचना का प्रयास किया था। मुसलमान शासकों की अनेक सामाजिक रीतियाँ लोगों के आचार-विचार में घुस गयी थीं और जिस प्रकार आज के शिक्षित नवयुवक पाश्चात्य देशों की रीति-नीति का विचारहीन अनुकरण कर रहे हैं, ठीक उसी प्रकार उस युग के लोग भी मुसलमानों की रीति-नीति को अपनाने के लिए सचेष्ट थे। इसलिए रामदास हिन्दू-आदर्शों और उसकी संस्थाओं की फिर से गौरवमयी प्रतिष्ठा करना चाहते थे। एक ओर शिवाजी के दरबार के पण्डितगण मराठी शब्दावली में से अरबी-फारसी के शब्दों को निकालने में व्यस्त थे, तो दूसरी ओर रामदास का ध्यान उन राष्ट्रीय परम्पराओं के सूक्ष्म विवरणों में लगा था, जो मुसलमानों के दीर्घकालीन सम्पर्क के कारण नष्ट हो गये थे। वे इन्हें विजातीय प्रभावों से निकालकर हिन्दू-आदर्शों से पुनः अनुप्राणित करके सुधारने का प्रयास कर रहे थे। इस प्रकार वे एक ऐसे महापुरुष थे, जिन्होंने शताब्दियों से पूर्णतया उपेक्षित हिन्दू-जीवन और संस्थाओं की पुनर्रचना के कार्य को सम्पन्न करने का प्रयास किया।

रामदास के जिस सन्देश ने लोगों के मन को इतनी

गहराई से प्रभावित किया और जिसने उन्हें महान् राष्ट्रीयता के निर्माण के लिए संगठित होने हेतु प्रेरित किया, उसका स्वरूप क्या था? उनका उद्देश्य सरल और उत्साहवर्धक था। उन्हें दुर्बलमना, उदास, निराश और हताश लोगों के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी। वे शक्ति के आदर्श के पुरोधा थे, आशा के सन्देशवाहक थे। वे कहा करते, "बल अर्जित करो––स्वतंत्र रूप से सोचने का बल, निर्भीक रूप से बोलने का बल तथा दृढ़ता से कार्य करने का बल।" विचारों की दासता को वे गर्हित समझते थे। वे दिमागी गुलामी को नहीं सह सकते थे। वे कहा करते, "कभी विश्वास मत करो, पर निरन्तर जाँच करो। निराश मत होओ। प्रत्येक के भीतर प्रचुर सम्भावनाएँ निहित हैं। अनेक व्यक्तियों में ये प्रसुप्त होती हैं। दैवी ज्योति को ज्योतित करो और तुम कुछ भी प्राप्त कर सकते हो। दीवार से सटकर स्त्रियों के समान मत रोओ। भले ही संसार तुम्हारा विरोध करे, तब भी नहीं। भले ही तुम्हें विपत्तियों के पहाड़ का सामना करना पड़े, तब भी नहीं। विपदाएँ तो प्रभु की कृपा हैं। ईश्वर की इच्छा का अनुसरण करो। श्रद्धापूर्वक उनकी आज्ञा का पालन करो, न कि अनिच्छापूर्वक। प्रभु तुम्हें लक्ष्य की ओर ले जा रहे हैं। अगर रास्ता गुलाबों से भरा हुआ न हो, तो क्या हुआ? सोचो कि जीवन एक युद्धक्षेत्र है। धिक्कार है उसे, जो इस युद्धक्षेत्र में दुर्बल हृदय लेकर आता है! शक्तिशाली बनो। शक्ति ही जीवन है

और दुर्बलता ही मृत्यु। सांसारिक विषयों में एकाग्रता रखना भी तपस्या का एक प्रकार है। भौतिक विषयों में महानता भी एक आध्यात्मिक सम्पदा है। समाज से भागो मत। तन और मन से उसकी सेवा करो। समाज-सेवा और देव-सेवा समानार्थी हैं। प्रत्येक व्यक्ति के साथ उसके आदर्श के अनुरूप व्यवहार करो। समाज को आगे ही आगे बढ़ाते चलो। मत-भिन्नताओं को भूल जाओ। उन पर कभी बल मत दो। वे तो हमेशा रहेंगी। सच्चा लोकनायक वह है, जो लोगों को ठोस और रचनात्मक विचार दे सके। जीवन क्षणिक है। जीवन सतत परिवर्तनशील है। मृत्यु दरवाजा खटखटा रही है। उसका हर समय सामना करने के लिए तैयार रहो। पर जब तक जीवन चल रहा है, तब तक उसे आत्मोन्नयन, समाज-सेवा और देवाराधना में लगाये रखो।"

उनके बृहदाकार उपदेशों में से ये कुछ उद्धरण उनके साहस, शक्ति और आशा के सन्देश का सार प्रदान करते हैं। उनके इस उपदेश ने देश में इतनी जागृति भर दी कि अन्ततोगत्वा विदेशी जकड़न से मुक्ति मिल गयी।

सन्त रामदास के कार्य की उपर्युक्त विशिष्टताओं को अधिक विस्तार से इसलिए बताना पड़ा कि सत्रहवीं शताब्दी के जीवन के साथ आधुनिक काल के पाश्चात्य आदर्शों एवं रीति-नीति से बुरी तरह प्रभावित हिन्दू-जीवन और संस्थाओं की जो अत्यधिक समानता है, उसे

दिखाया जा सके और यह बताया जा सके कि वर्तमान हिन्दू-जीवन और संस्थाओं में तद्रूप परिवर्तन लाने के लिए उन्हीं के समान महापुरुष की आज कितनी अधिक आवश्यकता है। इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं है कि हमारे गुरुदेव श्रीरामकृष्ण और उनके शिष्यप्रवर स्वामी विवेकानन्द की ऐसे महान् व्यक्तित्व से अनेक बातों में समानता है। इसका कारण यह है कि इन्होंने भी सारे विश्व में हमारे सनातन धर्म की महत्ता और गरिमा की प्रतिष्ठा की है। यद्यपि परमहंस रामकृष्ण अपने समीप आनेवाले लोगों को शुद्धा-भक्ति अर्जित करने और पूर्णता प्राप्त करने के लिए नैतिक उच्चता का उपदेश दिया करते थे, तथापि उनका हृदय जनसमाज की घोर पतनावस्था को देखकर दुःख से कातर हो उठता था। जब तक उन्होंने अपने सुविख्यात शिष्य स्वामी विवेकानन्द पर जनसमाज के उन्नयन के उपायों को खोजने का दायित्व नहीं सौंप दिया, तब तक वे व्याकुल ही बने रहे। यह भी कहा जाता है कि जब स्वामीजी लक्ष्य के प्रति निरुत्साहित हो जाते और उनका हृदय कार्य की विशालता को देखकर निराश हो जाता, तब गुरुदेव उनके समक्ष प्रकट हो जाते थे। वे प्रेमपूर्वक उन्हें उनकी दुर्बलता के लिए ताड़ना देते और कार्यरत बने रहने के लिए उत्साह और प्रेरणा प्रदान करते। इसी दायित्व के निर्वाह हेतु स्वामीजी पश्चिम गये। वे समग्र विश्व के जनसमूह की स्थिति का अध्ययन कर यह जानना चाहते

थे कि किस प्रकार भारत की जनता का नवजागरण हो सकता है और वह कैसे अतीत की अपनी उस महान् आध्यात्मिक ऊँचाई तक फिर से पहुँच सकती है जहाँ से वह इतने दयनीय रूप से गिर गयी है। जब उन्होंने विश्व-विजयी होकर भारत में प्रवेश किया, तब कोलम्बो से अल्मोड़ा तक अनेक स्थानों पर उन्होंने जो व्याख्यान और उपदेश दिये, उनमें उन्होंने अपने पाश्चात्य-प्रवास के अनुभवों का उल्लेख हमारे निर्देशन के लिए किया है। उन भाषणों और उपदेशों से पता चलता है कि जनता के नवजागरण के साधन ठीक वैसे ही हैं, जैसे रामदास ने सत्रहवीं शताब्दी में अपनाये थे। स्वामीजी के उपदेश भी सरल थे और समानरूप से शक्ति एवं आशा से परि-पूर्ण थे। वे भी रामदास के समान कमजोरों और निराशा-वादियों से असन्तुष्ट थे। जहाँ रामदास ने मराठों की एकता के साधन के रूप में भगवत्प्रेम का प्रचार किया था, वहाँ स्वामीजी ने एक कदम आगे बढ़कर उस सार्वजनीन देवत्व का दर्शन कराया, जो प्रत्येक व्यक्ति के अन्तराल में प्रच्छन्न रूप से निहित है। जनता को इसका उपदेश देकर उसके हृदय में शक्ति का संचार करना, उसके टूटे हुए विश्वास को सम्पुष्ट बनाना, और इस प्रकार उसे हताशा के दलदल से उठाना, जिसमें गिरकर वे छटपटा रहे थे – कितना आवश्यक था। उन्होंने बार-बार दृढ़ स्वर में यह घोषणा की थी – "हमने आत्मविश्वास खो दिया है। हम अपनी आत्मा की गरिमा

भूल गये हैं। शताब्दियों से लोगों को अवनति का पाठ पढ़ाया गया है। उन्हें बताया गया है कि वे कुछ नहीं हैं। वे शताब्दियों से इतने भयभीत हैं कि लगभग पशुतुल्य बन गये हैं। उन्हें कभी आत्मा की--अमर, अनादि, अनन्त, विशुद्ध, शाश्वत और चिरन्तन आत्मा की बातें नहीं बतायी गयीं कि निम्न से निम्न प्राणी में भी आत्मा होती है, जो न कभी मरती है और न जिसका जन्म ही होता है, जिसे तलवार काट नहीं सकती, जिसे आग जला नहीं सकती और न वायु ही सुखा सकती है। उन्हें अपने-आप में विश्वास रखने दो। एक अंग्रेज और एक भारतीय में भला क्या अन्तर है? यही कि अंग्रेज अपने आप पर भरोसा रखता है और भारतीय नहीं रखता। यह भला क्यों कि हम तेंतीस करोड़ लोग पिछले हजार वर्षों से हर मुट्ठी भर विदेशियों द्वारा गुलाम बनाये गये और विदेशी हमारी पड़ी हुई देहों को पददलित करते रहे?—इसलिए कि उनमें आत्मविश्वास था और हममें नहीं। विश्वास—अपने-आप पर विश्वास, ईश्वर पर विश्वास। यही महानता का रहस्य है। अंग्रेज अपने-आप पर विश्वास रखता है तथा उसे विश्वास है कि वह कुछ भी कर सकता है। इससे उसका अन्तःस्थ प्रभु प्रकट होता है और वह जो चाहे कर सकता है। मगर तुम्हें हमेशा से यह सिखाया और बताया गया है कि तुम कुछ भी नहीं कर सकते, और तुम प्रतिदिन अस्तित्वहीन होते जा रहे हो। हम कमजोर हो गये हैं। हमने काफी समय तक रो लिया

है। अब और नहीं रोना है, प्रत्युत अपने पैरों पर खड़े होकर मनुष्य बनना है। हम मनुष्यों का निर्माण करनेवाला धर्म चाहते हैं। हमें मनुष्य का निर्माण करनेवाले सिद्धान्तों की आवश्यकता है। हम सर्वत्र मनुष्य का निर्माण करनेवाली शिक्षा चाहते हैं। और सत्य की कसौटी यह है—जो भी वस्तु तुम्हें शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक रूप से दुर्बल बनाये, उसे विष के समान त्याग दो। उसमें कोई जीवन नहीं है। वह कभी भी सत्य नहीं हो सकती। सत्य तो शक्तिवर्धक है। सत्य पवित्रता है। सत्य ज्ञान है। सत्य को शक्तिदायी होना चाहिए, आनन्ददायी होना चाहिए, अनुप्राणित करनेवाला होना चाहिए। अपने-आप पर विश्वास करो और उस विश्वास पर खड़े होकर शक्तिशाली बनो। हमें इसी की आवश्यकता है। हमारा देश आज लोहे की पेशियाँ और इस्पात के स्नायु चाहता है तथा ऐसी दुर्दम्य इच्छा-शक्ति चाहता है जिसका प्रतिरोध कोई नहीं कर सके, जो ब्रह्माण्ड के रहस्यों और आवरण को भेदकर किसी भी तरह से अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ हो, भले ही उसे अतल-तल में क्यों न जाना पड़े और मृत्यु का आलिंगन ही क्यों न करना पड़े।" इसी प्रकार के अनेक जाज्वल्यमान उपदेश स्वामीजी ने भारत के विभिन्न भागों की विभिन्न जनता को दिये। वे इन सन्देशों को व्यावहारिक रूप देने के लिए कुछ सुनिश्चित संघों की स्थापना करना चाहते थे, किन्तु यह भारत का दुर्भाग्य

था कि लोगों ने उनके उपदेशों को व्यवहार में उतारने का प्रयास नहीं किया। ऐसा लगता है कि उनका जन्म पचीस वर्ष पूर्व हो गया। तथापि कोई इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि उनके ये विचार क्रमशः समूचे भारत को और भारतेतर देशों को भी रूपान्तरित कर रहे हैं। यह तो सुनिश्चित बात है कि हमारे वेदान्त की पुरातन गरिमा को आधुनिक जनता में प्रचारित करने का, लोगों को साम्प्रदायिक विभेदों से उठाकर सार्वजनीन भगवत्प्रेम के माध्यम से संगठित करने का, हमारी आदतों और रीतियों में घुसकर हमारी समस्त परम्पराओं का अपलाप करनेवाले तथा हमारे राष्ट्रीय जीवन के सत्त्व को ही चूसनेवाले समस्त अवांछित विजातीय तत्त्वों का निराकरण कर सामाजिक ताने-बाने को सुलझाने का कार्य श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के शिष्यों को ही करना होगा। जनता को संगठित करने का और उनमें अपनी राष्ट्रीय संस्कृति एवं परम्पराओं के प्रति देशभक्ति की भावना जगाने का दायित्व रामकृष्ण-विवेकानन्द मिशन ही ले सकता है और कालान्तर में उसे सफल बना सकता है।

शिवाजी रामदास के प्रति कितनी अगाध श्रद्धा रखते थे, यह उनके जीवन की कुछ ही घटनाओं से जाना जा सकता है। रामदास से दीक्षित होने के उपरान्त शिवाजी अपने महल में लौटे तथा उन्होंने अपने गुरु से प्रति सप्ताह गुरुवार को मिलने और सभी बातों के लिए

उनसे निर्देश प्राप्त करने का संकल्प किया। वे सदैव किसी भी कार्य को करने से पहले रामदास से आज्ञा प्राप्त कर लिया करते थे। एक बार उन पर मुसलमानों ने आक्रमण कर दिया। शत्रुओं ने राजधानी को घेर लिया और शिवाजी के लिए रामदास के साप्ताहिक दर्शन के लिए जाना असम्भव हो गया। इससे शिवाजी अत्यन्त खिन्न और बेचैन हो उठे। उन्होंने रामदास के समीप जाने के लिए सभी प्रकार के उपाय कर डाले, पर शत्रु बड़ा शक्तिशाली था। सब लोगों ने उन्हें सुझाव दिया कि वे अपने प्राण संकट में न डालें और इस समय यह विचार छोड़ दें। यद्यपि शिवाजी ने लोगों की बातों पर कान नहीं दिया तथापि उन्होंने देखा कि उनके सारे प्रयास विफल हो गये हैं। वे अत्यन्त हताश हो गये और उन्होंने उपस्थित जनसमूह के समक्ष प्रतिज्ञा की कि वे कोई भी कार्य नहीं करेंगे और न रामदास की आज्ञा के बिना शत्रुओं के आक्रमण के प्रतिरोध में अपनी उँगली ही उठायेंगे। ऐसी प्रतिज्ञा कर वे महल जाने के लिये दरबार से निकले ही थे कि उसी क्षण वहाँ उपस्थित समस्त सभासदों को विस्मयविमूढ़ करते हुए रामदास प्रकट हो गये। सबने शिवाजी के साथ उन्हें प्रणाम किया। रामदास ने उन्हें आशीर्वाद दिया और शिवाजी से कहा कि वे भविष्य में फिर कभी ऐसी प्रतिज्ञा न करें, क्योंकि हो सकता है कि वे उनसे बहुत दूर हों और उनकी अभिलाषा पूरी न कर पायें। पर शिवाजी उनसे सदैव

आज्ञा प्राप्त करने के लिए अड़े रहे, भले ही परिस्थितियाँ कैसी भी क्यों न हों। यद्यपि रामदास शिवाजी की महती भक्ति और श्रद्धा को देखकर प्रसन्न हुए थे, तथापि उन्होंने उन्हें समझाया कि वे ऐसा न करें और जब भी उनके मन में किसी विषय पर सन्देह उत्पन्न हो, तो वे भवानी से पूछ लें। शिवाजी ने पूछा कि अगर देवी ने उन्हें दर्शन नहीं दिये, तो वे क्या करेंगे? तब रामदास ने उन्हें देवी की इच्छा जानने के लिए कुछ निश्चित उपाय बतलाये कि उन्हें किस प्रकार स्नान करना चाहिये, ब्रह्मचर्य और उपवास रखना चाहिये। रामदास ने कहा कि उन्हें दो व्यक्ति अपने साथ रखना चाहिये। एक व्यक्ति प्रश्नों को लिखेगा और दूसरा व्यक्ति उनके उत्तरों को। देवी शिवाजी को भावाविष्ट कर स्वयं उनके माध्यम से उत्तर देंगी'। इतना कहकर रामदास ने शिवाजी को मुसलमानों पर विजय प्राप्त करने का आशीर्वाद दिया और अन्तर्धान हो गये। जब भी आवश्यकता हुई, रामदास ने ऐसे अनेक चमत्कार किये। एक बार शिवाजी के दो हजार सैनिकों को आकस्मिक रूप से भोजन प्राप्त हुआ था। वह भोजन एक गुफा में रखा हुआ था। इसी प्रकार लोगों की प्यास को शान्त करने के लिए रामदास ने एक चट्टान के नीचे जल का सोता पैदा कर दिया था। यह स्थान आज भी कबाडी योगदण्ड तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध है। किन्तु अब हमें एक ऐसी घटना की ओर ध्यान देना चाहिए, जो शिवाजी की

संसार के प्रति नितान्त अनासक्ति की और अपने गुरु के चरणों में किये गये उनके तीन महान् त्यागों की ज्वलन्त परिचायक है। शिवाजी ने अपने गुरु के चरणों में अपनी देह, अपना मन और अपनी समस्त सम्पदा अर्पित कर दी थी। इस प्रकार का त्याग प्रत्येक सच्चे शिष्य को अपने गुरु के प्रति करना पड़ता है। गुरु ही तो इस पृथ्वी पर ईश्वर के प्रतिनिधि होते हैं। कहा जाता है कि एक बार जब शिवाजी सातारा के किले में थे, तो उन्होंने नीचे शहर में रामदास को भिक्षाटन करते हुए देखा। वे तत्काल अपने चिटनीस (प्रमुख लिपिक) बालाजी आबाजी के पास गये और उनसे एक आदेश लिखवाया। फिर उसे अपनी मुद्रा से मुद्रित करवाकर उस दिशा की ओर बढ़ चले, जिधर रामदास भिक्षा माँग रहे थे। उनके समीप पहुँचकर उन्होंने वह पत्र उनके कमंडलु में डाल दिया। रामदास बोले, "क्या इस कागज से भूख मिट जायेगी?" कागज खोलने पर उन्होंने देखा कि शिवाजी ने अपना समस्त राज्य उन्हें अर्पित कर दिया है। तब रामदास ने पूछा कि राजपाट से हीन होकर अब वे क्या करना चाहते हैं? शिवाजी ने उत्तर दिया कि वे अपने महान् गुरुदेव की सेवा में अपना दिन बिताना चाहते हैं। रामदास बोले, "बहुत अच्छा। अब तुम मेरे पीछे आओ।" उन्होंने राजा के कन्धों पर अपनी भिक्षा की थैली डालते हुए कहा कि वे उनके लिए भीख माँग लायें। शिवाजी ने तत्काल उनकी आज्ञा का पालन किया। वे

विना किसी संकोच या लज्जा के सातारा के किले में घर-घर भीख माँगते हुए घूमने लगे। जब पर्याप्त आटा इकट्ठा हो गया, तब वे रामदास के साथ नदी के किनारे गये और सारी भीख उनके सामने रख दी। रामदास ने उससे दो रोटियाँ सेंकीं। एक उन्होंने स्वयं खायी और दूसरी राजा को दी। भोजन के बाद रामदास ने शिवाजी से पूछा कि उन्हें अपना नया पेशा कैसा लग रहा है। शिवाजी ने कहा कि इसमें उन्हें बड़ी खुशी है। फिर रामदास ने उनसे अपनी राजधानी वापस ले लेने के लिए कहा। इस पर शिवाजी ने अत्यन्त उदास होकर कहा, "आप मुझे कुछ भी करने के लिए कहिये, किन्तु 'दत्तापहरण' (दिये गये दान को वापस लेने) के पाप से मुझे बचा लीजिए।" रामदास ने उनसे पूछा कि क्या वे उनकी आज्ञा का पालन करेंगे? शिवाजी ने सहमति प्रकट की। तब रामदास ने उन्हें अपने महल लौटने और अपने गुरु के नाम पर राज्य करने का आदेश दिया। इस बात पर राजा राजी हो गये और उन्होंने उसी दिन से महान् भगवा ध्वज को यह व्यंजित करने के लिए ग्रहण किया कि यह राज्य एक संन्यासी का है। यह ध्वज आज भी संग्रहालय में शिवाजी की अन्य वस्तुओं के साथ सुरक्षित है तथा इसे बम्बई के श्री पुरुषोत्तम विश्राम मावजी नें विभिन्न स्रोतों से अत्यन्त परिश्रम करके अपार धन व्यय कर प्राप्त किया है। वस्तुतः शिवाजी का हृदय महान् और पवित्र था। उनमें संसार की किसी भी वस्तु के

प्रति लेशमात्र आसक्ति नहीं थी। उनका समग्र कार्य किसी क्षणविशेष की आवश्यकता अथवा वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित नहीं था, प्रत्युत कार्य और प्रशासन के उन मूलभूत सिद्धान्तों के प्रति अविचलित निष्ठा के भाव से परिचालित था, जिन्हें उन्होंने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उपयुक्त और आवश्यक समझकर सुस्थिर कर लिया था।

स्वामीजी वर्णन के इस अंश पर पहुँचकर अत्यन्त भावोद्दीप्त हो उठे और बोले, "क्या ऐसे महान् और पवित्र आत्मा को पहाड़ी चूहा, लुटेरा, विश्वासघाती और धोखेबाज कहा जा सकता है? तुमने यही सब तो अपने महान् नायक के सम्बन्ध में सीखा है—ऐसे नायक के सम्बन्ध में, जिसके समक्ष सारा राज्य तृणवत् था; ऐसा नायक, जो अपने गुरु के कहने पर अपने ही किले में भीख माँगने में भी तनिक विचलित नहीं हुआ। तुम्हें अपने बच्चों को शिवाजी के सम्बन्ध में ऐसी भ्रष्ट बातें सिखाने में लज्जा आनी चाहिए!"

पर मैंने स्वामीजी से विनम्रतापूर्वक पूछा कि क्या बीजापुर के नवाब अफजल खाँ के साथ शिवाजी का आचरण जघन्य विश्वासघात का नहीं था? आप किस प्रकार शिवाजी के उस समय के आचरण की व्याख्या करेंगे?

स्वामीजी ने कहा, "हाँ, मैं जानता हूँ कि मुसलमान लेखकों का अन्धानुकरण करनेवाले अंग्रेज इतिहासकारों

ने उन पर अन्धविश्वास, क्रूरता, विश्वासघात और धोखे-बाजी का आरोप लगाया है। पर जो शिवाजी के आन्तरिक जीवन से अवगत हैं, वे उस परिस्थिति को जानते हैं जिसमें उन्होंने उस प्रकार का आचरण किया था। यह आचरण उनके चरित्र पर एक गहरा धब्बा कहा जाता है, पर मैं बता दूँ, शिवाजी का वैयक्तिक जीवन वासना से कलंकित नहीं था। उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी उतनी ही निष्कलंक थी। उन्होंने आत्मरक्षा के लिए बाध्य होकर जिन कुछ उपायों को अपनाया था, वे भले ही विवादास्पद समझे जाते हैं, परन्तु वस्तुतः ऐसा समझने का कोई आधार नहीं है।"

मैंने स्वामीजी से प्रार्थना की कि वे उन परिस्थितियों का खुलासा करें, जो अफजल खाँ की शिवाजी के हाथों मृत्यु से सम्बन्धित हैं। यद्यपि रात काफी हो गयी थी, फिर भी स्वामीजी यह बताने के लिए सहमत हो गये।

(क्रमशः)

बिना किसी बदले की आशा से संसार में भेजा गया प्रत्येक शुभ विचार संचित होता जायगा—वह हमारे पैरों में से एक बेड़ी को काट देगा और हमें अधिकाधिक पवित्र बनाता जायगा, जब तक कि हम पवित्रतम मनुष्य के रूप में परिणत नहीं हो जाते।

— स्वामी विवेकानन्द

शरणागति-रहस्य--३

कुमारी सरोजबाला

(गतांक से आगे)

(प्रखर मेधासम्पन्न इस बालिका का जन्म १ नवम्बर, १९५६ को हुआ है। कहते हैं कि छः वर्ष की उम्र से ही इन्होंने प्रवचन देना आरम्भ कर दिया। आश्रम में इनके कई प्रवचन हो चुके हैं। प्रस्तुत प्रवचन ६-११-१९६९ को दिया गया था, जिसकी तीसरी और अन्तिम किस्त यहाँ प्रकाशित की जा रही है।—सं.)

माया से छूटने के अनेकानेक साधन हमारे शास्त्रों में बतलाये गये हैं। शास्त्रों में बतलाया है कि आत्मा को सन्निपात हो गया है। इस सन्निपात को नष्ट करने के लिए, इस आवरण का नाश करने के लिए अनेकों साधन बताये गये हैं। 'गोपथब्राह्मण' के प्रथम प्रपाठक की तीसवीं कंडिका में मुख्य साधन यह बताया गया है—'आत्मभैषज्यमात्मकैवल्यमोंकारः'। यों तो आत्मा रोगी है और उसे मल, विक्षेप और आवरण—ये तीनों रोग सता रहे हैं, इसी से आत्मा को सन्निपात हो गया है। इसलिए शरणागति में तो जाओ, पर साथ ही साथ प्रभु की प्राप्ति के जो अनेक प्रकार के नियम हैं, साधन हैं, उनका भी पालन करो और उनके नाम का जप करो। इसके लिए मुख्य साधन है 'ॐ' का जप। 'ॐ' के जप से मल, विक्षेप और आवरण धीरे-धीरे अपने-आप नष्ट हो जाते हैं। इसीलिए ॐकार को आत्मा का चिकित्सक बताया गया है। 'गोपथब्राह्मण' के उत्तर भाग के तीसरे प्रपाठक की ग्यारहवीं कंडिका में बतलाया है—'अमृतं वै प्रणवः,

अमृतेनैव तन्मृत्युं तरति। तद्यथा मन्त्रेण वा वंशेनेवागर्तं संक्रमेत एवं तत्प्रणवेनोपसन्तनोति।' मतलब, इस ॐ-रूपी जहाज में बैठकर मानव भवसागर से पार हो सकता है। इसीलिए तो वेदों के अन्तर्गत परमात्मा ने अपना नाम ॐ ही बताया है। यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय के अन्तिम मन्त्र के अन्त में कहा गया है—'ॐ खे ब्रह्म'। इन तीन शब्दों में बताया गया है कि परमात्मा का नाम ॐ है। यही कारण है कि यजुर्वेद कहता है—'ॐ क्रतो स्मर'। अर्थात् हे कर्मशील, तू हमेशा इस ॐ का स्मरण कर। अथर्ववेद भी कहता है—'उद्‌गीथ उपास्यः।' अर्थात् इसी ॐ का सहारा लो। इसीलिए यजुर्वेद का कहना है—'ॐ पृष्ठाः'। यानी, ॐ पर दृढ़ विश्वास, दृढ़ श्रद्धा करो।

हमारे शास्त्रों का कहना है कि जिस समय बालक या बालिका का जन्म हो, तो उसे स्नान कराने के बाद स्वर्ण की शलाका से घी और मधु के द्वारा उसकी जिह्वा पर ॐ लिखा जाय। मतलब, जन्म से ही उसे शिक्षा मिल गयी कि हे मानव, तेरी जिह्वा पर सदैव ॐ रहना चाहिए। मृत्यु के समय भी तेरी जिह्वा पर ॐ रहे। प्रश्नोपनिषद् (५।७) में बताया गया है—

तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्
यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति।

—अर्थात्, विद्वान् मनुष्य उस शान्त, अजर, अमर, अभय, सर्वव्यापक परमात्मा को ॐकार के जप के द्वारा प्राप्त कर सकता है। भगवती गीता (७।१३) के अन्तर्गत

श्रीभगवान् कहते हैं—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

—हे अर्जुन, जो ॐ पर ध्यान लगाता हुआ प्राण त्यागता है, वह महान् मुक्ति की प्राप्ति कर लेता है। इसीलिए श्रुतियों का कहना है कि नेत्र खोलते समय भी जिह्वा पर ॐ हो और बन्द करते समय भी। पर जब तक हम जीवन भर ॐ का जप नहीं करेंगे, तो वह मृत्यु के समय कैसे निकलेगा ? इसलिए शुरू से अन्त तक जिह्वा पर ॐ होना चाहिए। यह पहले से ही ज्ञानियों और बालकों के कल्याण का आधार होता चला आ रहा है और अब भी इसके जप से मानवों का कल्याण हो सकता है। यह परमात्मा का निजी नाम है और निजी नाम के पुकारने से शीघ्र से शीघ्र भगवान् की कृपा होती है।

योगी याज्ञवल्क्य ने बतलाया है—

अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो मनोमयः ।
तस्योंकारः स्मृतो नाम तेनाऽऽहूतः प्रसीदति ॥

—अर्थात्, वह परमात्मा अदृश्य है और इन चर्मचक्षुओं से उसके दर्शन नहीं हो सकते। वह भावना मात्र से गृहीत होता है। मनन के द्वारा जिसका परिचय होता है, उसे प्राप्त करने का मुख्य साधन ॐ का जप है और ॐ ही उसका नाम है। तभी तो योगदर्शन में बतलाया है—'तस्य वाचकः प्रणवः'—उस ईश्वर का वाचक ॐ ही है। इसी ॐ का जप करने का आदेश पतंजलि ने दिया है।

जो मानव ॐ पर ध्यान जमाता है, उसका मन एकाग्र और निरुद्ध हो जाता है। तभी तो छान्दोग्य-उपनिषद् के ऋषि ने बतलाया है–-'ॐ इत्येतदक्षरम् उद्गीथम् उपासीत'—अर्थात्, हे मानव! अगर तू मुक्ति की प्राप्ति करना चाहता है तो तू इसी ॐ को उद्गीथ बना, हमेशा ॐ का जप कर, क्योंकि यह सभी के गाने-योग्य है। ॐ के द्वारा मानव उस ईश्वर की प्राप्ति करके माया से मुक्त हो ईश्वर के समान बन सकता है। फिर उन्होंने समाधि में देखा कि ॐ का जप ही क्यों करना चाहिए। उन्होंने बतलाया कि ॐ समस्त रसों का अन्तिम सार है। जैसे समस्त रसों का अन्तिम सार पृथ्वी है; पृथ्वी का सार जल है; जल का सार औषधि है; औषधि का सार मानव है; मानव का सार वाणी है; वाणी का सार वेद है; वेदों का सार सामवेद है, जिसमें मन्त्रों के द्वारा प्रभु के गुणों का गायन हुआ है, और उस सामवेद का सार यह उद्गीथ या ॐ है। यानी ॐ ही समस्त रसों का अन्तिम रस, समस्त सारों का अन्तिम सार है।

जब प्रश्नोपनिषद् के ऋषि से प्रश्न किया गया कि जो मानव ॐ पर ध्यान जमाता हुआ प्राण त्यागता है, उसे कौनसी स्थिति और कौनसी वस्तु प्राप्त होती है, तो उत्तर में उन्होंने बतलाया—'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्ये-तेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः' (५।५)—अर्थात्, जो योगी इस ॐ पर ध्यान जमाता हुआ प्राण त्यागता है, वह अवश्य ही मुक्ति की प्राप्ति

करता है। यही कारण है कि मुण्डकोपनिषद् के ऋषि ने भी 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' (२।६) कहकर ॐ के द्वारा परमात्मा का ध्यान करने का आदेश दिया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती अपने 'सत्यार्थप्रकाश' के अन्तर्गत ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका की पंचमहायज्ञ-विधि में ॐ को परमात्मा के सभी नामों में उत्तम और सर्वश्रेष्ठ बताते हैं—'एतच्च सर्वोत्तमं प्रसिद्धतमं परब्रह्मणो नामास्ति एतेनैकेनैवनाम्ना परमेश्वरस्य अनेकानि नामान्यागच्छन्ति इति वेद्यम्।' उनका कहना है कि ॐ अक्षर में सभी नामों के गुण आ जाते हैं।

गुरु नानक का भी इसी ॐ को जपने का आदेश है। वे कहते हैं —

ओंकार ब्रह्मा उत्पत्ति, ओंकार किया जनचित्त।
ओंकार सैल जुग भये, ओंकार वेद निरभये।
ओंकार शब्द जप रे, ओंकार गुरु मुख तेरे।
ॐ अखर तो सुनहु बिचारा, ॐ अखर है त्रिभुवन सारा।
प्रणवो आदि एक ओंकारा, जल थल महि थल कियो पसारा।।

—यानी, ॐ सारे संसार का प्राण है। आधुनिक काल के महापुरुषों ने भी इसी के जप का आदेश दिया है। अगर विचार करके देखा जाये, तो जो परमात्मा के गुण हैं, वे ही इस ॐ के अक्षरों में भी निहित हैं। ईश्वर सृष्टि करता है, रक्षा करता है और संहार करता है। इसी तरह ॐ में भी तीन नाम और तीन अक्षर अ, उ, म् हैं। इन्हें मिला देने पर ॐ बनता है। अब इन तीनों का

अलग अलग अर्थ करें। 'अ' का अर्थ हुआ विराट्, यानी जगत् को प्रकाशित करनेवाला। 'अ' भानुबीज या सूर्यबीज है, क्योंकि अगर आप 'भानु' से 'अ' की मात्रा निकाल दें, तो 'भनु' रह जायेगा, जिसका अर्थ सूर्य तो हो ही नहीं सकता। 'अ' निकाल देने से सूर्य की प्रकाशक-शक्ति खत्म हो जाती है। 'अ' से अग्नि, विश्व आदि अर्थ भी लिये जाते हैं। इसके बाद आता है 'उ'। 'उ' का अर्थ हुआ हिरण्यगर्भ। आयु, तेज और चित्त का आधार एवं ठिकाना होने के कारण इसे हिरण्यगर्भ कहा जाता है। सारे संसार को प्रकाशित करने और उसे जानने के कारण इसे वायु भी कहते हैं तथा सूर्य का प्रकाशक होने के कारण इसे तेजक भी कहते हैं। इसके बाद आता है 'म्', जिसका अर्थ हुआ ईश, प्राज्ञ, आदित्य और आनन्द। मतलब यह है कि जिस तरह परमात्मा के गुण अनन्त हैं, उसी प्रकार ॐ के अक्षरों के अर्थ भी अनन्त हैं। एक उपासक की जितनी भी इच्छाएँ या कामनाएँ हो सकती हैं, उन सबको पूर्ण करने की शक्ति ॐ के अक्षरों में निहित है। ॐ इतना सुन्दर, इतना मधुर, इतना सरल शब्द है कि हम इसी को अपने जीवन का सहारा बनाकर भवसागर से पार हो सकते हैं। वास्तव में ॐ परमात्मा का नाम है और इसका अर्थ सर्वरक्षक, सर्वगतिदाता, सर्वप्रकाशक, पाप-विनाशक, दाता, भगवान्, सृष्टिकारण, शक्तिमान, श्रोतावृत्ति, पुष्टि, न्यायकारी, सत्, चित् और आनन्द।

'गोपथब्राह्मण' में बतलाया है—'आधातुरवतिमप्येके,

रूपसामान्यार्थसामान्यान्नेदीयस्तस्मादापेरोंकारः सर्वमाप्नोतीत्यर्थः’। मतलब, ‘आप्तव्याप्तयौ’ और ‘अरक्षणे’ इन दोनों धातुओं से सामान्य कथन किया गया है। अतएव इनका अर्थ सामान्य है। ‘आप्त’ धातु से ओंकार सर्वव्यापी है और सारे जगत् को धारण करनेवाला है। ॐ तथा ईश्वर में वाच्य-वाचक का सम्बन्ध है, इसलिए ॐ शब्द का ध्यान होते ही अपने-आप ईश्वर का ध्यान होने लगता है। इसीलिए श्रुतियों ने ॐ के द्वारा ईश्वर का ध्यान करने का आदेश दिया है।

उपनिषदों का कहना है—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मंथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढ़वत् ॥

—मतलब, हे मानव! तू इस देह को अधरारणि बना और ॐ को उत्तरारणि। फिर ध्यानरूपी मथन-दण्ड से बार बार रगड़कर तू छिपी हुई परमज्योतिःस्वरूप अग्नि के दर्शन कर। अधरारणि और उत्तरारणि किसे कहते हैं? बड़े बड़े यज्ञों में चन्दन की लकड़ी से अग्नि प्रकट की जाती है। जो चन्दन की लकड़ी नीचे रखी जाती है, उसे अधरारणि और ऊपर रखी जानेवाली लकड़ी को उत्तरारणि कहते हैं।

अब यह भी जरा समझ लीजिये कि ॐ का जप कैसे करना चाहिये। एक समय उद्धवजी ने भगवान् से प्रश्न किया —

यथात्वामरविन्दाक्ष यादृशं वा यदात्मकम् ।
ध्यायेन्मुमुक्षुरेतन्मे ध्यानं त्वं वक्तुमर्हसि ॥

—भगवन् ! आप किस तरह ध्यान करने से मुमुक्षुओं को प्राप्त हो सकते हैं ? तब भगवान् ने उत्तर दिया—

सम आसन आसीनः समकायो यथा सुखम् ।
हस्तावुत्संग आधाय स्वनासाग्रकृतेक्षणः ॥

—जो आसन न तो बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा, ऐसे समान आसन पर शरीर को सीधा करके आराम से बैठ जाओ । हाथों को अपनी गोद में रख लो। दृष्टि को नासिका के अग्र भाग में जमाओ । फिर —

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरककुम्भकरेचकैः ।
विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः ॥

—पूरक, कुम्भक और रेचक तथा रेचक, कुम्भक और पूरक इन प्राणायामों के द्वारा नाड़ियों का शोधन करो । इसके बाद —

हृदयविच्छिन्नमोंकारं घण्टानादं बिसोर्णवत् ।
प्राणेनोदीर्य तत्राथ पुनः संवेशयेत् स्वरम् ॥

—हृदय में कमलनालगत पतले सूत के समान ओंकार का चिन्तन करो । इस तरह उसे ब्रह्मरन्ध्र में ले जाओ । वहाँ ले जाकर घण्टानाद के समान स्वर स्थिर करो । उसका ताँता न टूटने पाये । हे उद्धव! इस तरह करते करते मनुष्य का ध्यान मुझमें एकाग्र हो जाता है और वह मेरी प्राप्ति कर लेता है ।

किन्तु इस प्रकार ॐ का ध्यान हमारे लिए तब सम्भव

होगा, जब हम महापुरुषों की शरण में जायेंगे। अगर भौतिक पदार्थों से शान्ति प्राप्त होती, तो बड़े बड़े सेठ-साहूकार, बड़े बड़े राजा-महाराजा विरक्त पुरुषों के चरणों में मत्था ही क्यों रगड़ते और नतमस्तक ही क्यों होते? आज मुझसे कुछ लोगों ने प्रश्न किया कि हममें और इन सन्तों में क्या अन्तर है? इसी तरह का एक प्रश्न किसी व्यक्ति ने एक विरक्त पुरुष से किया था। उत्तर में उन्होंने यह कथा बतलायी थी कि एक समय एक सेठ और एक सन्त फर्स्ट क्लास के डिब्बे में यात्रा कर रहे थे। उस सेठ ने देखा कि जितना धन, सामान, नौकर-चाकर उसके पास है, उससे कहीं अधिक सामान उस सन्त के पास है। तब उसके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि वास्तव में उसमें और सन्त में क्या अन्तर है? उसे भोगी और सन्त को त्यागी क्यों कहा जाता है? उससे रहा न गया तो उसने सन्तजी से ही यह प्रश्न पूछ लिया। पहले तो सन्तजी कुछ नहीं बोले, पर जब रेल कुछ देर में जंगल में रुक गयी, तब उन्होंने सेठ से कहा, "भैया! चलो बाहर चलकर देखें कि यह रेल बीच जंगल में क्यों रुक गयी?" सेठजी हाथ जोड़कर बोले, "नहीं महाराज जी! मैं बाहर नहीं जाऊँगा। अगर मैं चला गया और कोई मेरे सामान लेकर चला जाये तो मैं क्या करूँगा? यह तो जंगल है।" सन्तजी ने उसे बहुत समझाया, कहा कि नौकर-चाकर देख लेंगे, पर सेठ वहाँ से नहीं उठा। तब सन्तजी ने कहा, "बस भैया! मुझमें और तुममें इतना

ही अन्तर है। तुम इन वस्तुओं को पकड़े हुए हो। तुम्हारा इन पर प्रेम है। तुम इन वस्तुओं को त्यागना नहीं चाहते। पर हम चाहें तो एक क्षण में इससे भी अधिक सम्पत्ति त्याग सकते हैं। हमें न इनसे प्रेम है और न हमारी इनमें आसक्ति है।"

वास्तव में हमारे ये महापुरुष जो वस्तुएँ बनाते हैं, जैसा आपके सामने प्रत्यक्ष मौजूद है—यह सत्संग-भवन, यह ग्रन्थालय, यह आश्रम, यह सब जितना भी बनाया है, वह अपने लिए नहीं, पर संसार के कल्याण के लिए बनाया है। ये महापुरुष एक क्षण में इनका त्याग कर सकते हैं, क्योंकि इनमें इनकी आसक्ति नहीं है। इनके हृदय में वैराग्य है। शास्त्रों में वैराग्य के ये लक्षण बतलाये हैं—'विजितः रागः यस्मात् स विरागः विरागस्य भावः वैराग्यम्।' मतलब, जिसका राग यानी आसक्ति नष्ट हो गयी है, वही सच्चा वैराग्यवान् अथवा वीतराग है।

वैराग्य और त्याग की साधना में अन्तर केवल इतना है कि त्याग की साधना में पदार्थों का त्याग करना पड़ता है, जबकि वैराग्य की साधना में पदार्थों का त्याग नहीं करना पड़ता, बल्कि विषयों के प्रति आसक्ति का त्याग करना पड़ता है। जैसे हमारे भरत भैया अयोध्या के राज्य का कार्यभार तो सम्हालते थे, लेकिन बिलकुल आसक्तिहीन होकर। गोस्वामीजी वर्णन करते हैं—

अवधराज सुर राजसिहाई, दशरथ धन लख धनध लजाहीं।
जेहि पुर बसत भरत बिनु रागा, चंचरीक जिमि चंपक बागा॥

—उस राज्य में हमारे भरतलालजी इस तरह निवास करते थे, जिस तरह से चंचरीक भौंरा चम्पा के बाग में रहता है। चंचरीक भौंरा कभी चम्पा के पुष्प पर नहीं बैठता, बल्कि मँड़राता ही रहता है। तभी तो किसी ने कहा है—

चम्पा तुझमें तीन गुण, रूप रंग अरु बास।
अवगुण ऐसा कौन जो भ्रमर न आवै पास॥

वैराग्य की साधना मानसिक साधना है। सब कुछ करो, पर आसक्ति मत रखो, क्योंकि विषय दुःख का कारण नहीं, बल्कि आसक्ति ही दुःख का कारण है।

भगवान् गीताजी में (२।५९) कहते हैं—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

—हे अर्जुन! भले ही निराहारी रोगी-मनुष्य की इन्द्रियाँ शिथिल होने के कारण विषयों का सेवन करने में असमर्थ हो जायँ, तथापि विषयों के प्रति उसकी आसक्ति नष्ट नहीं होती। और यही आसक्ति दुःख का कारण है। उदाहरणार्थ, हम जिह्वा के मधुर स्वाद के लिए गुड़ खाते हैं। मान लो किसी कारण से हमने गुड़ न खाने का व्रत ले लिया, जैसे आजकल लोग तीर्थों में जाते हैं तो कुछ न कुछ चीज छोड़ आते हैं। कोई आलू छोड़ता है, तो कोई बैंगन।

आलू छोड़े, बैंगन छोड़े, काँदा छोड़ के आवै।
फल में छोड़े कड़वी तूम्बी जो कोई नहिं खावै॥

—लोग आलू, बैंगन, काँदा, लहसुन जरूर छोड़ते हैं, पर

कोई यह नहीं कहता कि मैंने काम छोड़ा, क्रोध छोड़ा, लोभ छोड़ा। इन्हें कोई नहीं छोड़ता। अस्तु, हम कह रहे थे कि किसी ने कोई कारणवश गुड़ खाना छोड़ दिया। अब यदि वह कहीं गुड़ को देख ले, तो गुड़ खाने की इच्छा उसके हृदय में जरूर उठेगी। फिर उसे दुख होगा। अतएव गुड़ उसके दुख का कारण नहीं, अपितु उसकी आसक्ति ही दुख का कारण होगी। जो विवेकी महापुरुष होते हैं, उनमें आसक्ति नहीं होती। वे 'पद्मपत्रमिवाम्भसा'––जल में कमल के पत्ते के समान सर्वथा निर्लेप और आसक्तिहीन होते हैं। वे महापुरुष इस दुखी संसार में भी सुख की प्राप्ति कर लेते हैं। कैसे ? 'संसार' शब्द के ऊपर जो बिन्दु है, उसे हटा दीजिए तो 'ससार' बच जायेगा। मतलब 'सारेण सहितः ससारः'। सार के सहित अर्थात् ब्रह्म यानी परमात्मा के सहित। जो महापुरुष हैं, वे परमात्मा को साथ रखते हैं, इसलिए संसार में रहते हुए भी वे आसक्तिहीन होते हैं। वास्तव में वे जानते हैं कि यह दुनिया हमारे अपने लिये है, पर हम दुनिया के लिए नहीं हैं। वेदान्त का भी यही कहना है––'Be in the world, but not of the world'। हमारे श्रीरामकृष्ण देव का भी यही कहना था कि दुनिया में रहो, पर दुनिया तुममें न रहे। जैसे, नाव तो पानी में रहती है, पर पानी नाव में नहीं होता। अगर पानी नाव में रहे, तो नाव डूब जायेगी। इसी प्रकार हमारे समझदार, विवेकी, ज्ञानी पुरुष संसार में रहते

हैं। इसलिए अगर हम इन्हें साक्षात् परमात्मा का स्वरूप समझकर इनकी शरण में जायेंगे, तो अपने-आप वे हम पर कृपा करके भवसागर से मुक्त होने के लिए ज्ञान, कर्म और भक्ति के साधन बतलायेंगे। जिस तरह पक्षी को उड़ने के लिए दो पंख और एक पूँछ—इन तीन चीजों की आवश्यकता होती है और नाव को नदी पार होने के लिए दो डाँड़ और एक पतवार चाहिए, इसी तरह मानव-तनरूपी नौका को भवसागर पार होने के लिए ज्ञान, कर्म और भक्ति—इन तीनों चीजों की आवश्यकता होती है। महापुरुषों के सत्संग से मानव को यह ज्ञान होता है कि क्या हेय है और क्या उपादेय। तब वह अनुभव करता है कि भौतिक पदार्थों में शान्ति नहीं है। इसलिए हे जीव! अगर परम शान्ति प्राप्त करना चाहते हो माया से मुक्त होना चाहते हो, परमात्मा की प्राप्ति करना चाहते हो, तो समस्त अभिमान को त्यागकर वीतराग और निःस्पृह सन्त-महापुरुषों की शरण में जाओ।

(समाप्त)

पहले आदेश-पालन करना सीखो। इन सब पाश्चात्य जातियों में स्वाधीनता का प्रभाव जैसा प्रबल है, आदेश-पालन करने का भाव भी वैसा ही प्रबल है। हम सभी अपने आपको बड़ा समझते हैं, इससे कोई काम नहीं बनता। महान् उद्यम, महान् साहस, महावीर्य और सबसे पहले आज्ञापालन—ये सब गुण व्यक्तिगत या जातिगत उन्नति के लिए एकमात्र उपाय हैं। और ये गुण हममें हैं ही नहीं।

— स्वामी विवेकानन्द

प्रश्न--(१) एक ओर आत्मा को नित्यमुक्त कहा जाता है और दूसरी ओर उसको मुक्ति के लिए साधना करने की बात भी कही जाती है। क्या यह विरोधाभास नहीं है ? (२) यदि आत्मा सर्वव्यापी हो और वही एकमात्र सत्ता हो, तो बन्धन की सत्ता फिर कहाँ रही ? और यदि बन्धन की भी सत्ता मान लें, तो इस सत्ता का नाश कैसे हो सकता है ?

--नीलमणि पाठक, दर्शनाचार्य, दिल्ली

उत्तर--आपके ये दोनों प्रश्न एक दूसरे से सम्बन्धित हैं, अतः इनका उत्तर अलग-अलग न दे एक साथ ही दे रहा हूँ। यह सही है कि आत्मा को नित्यमुक्त कहा जाता है और साथ ही यह भी सही है कि उसकी मुक्ति के लिए साधना की बात भी कही गयी है। इसका कारण है आत्मा की नित्यमुक्तता का अज्ञान। जैसे, सिर पर टोपी है, पर हम उस टोपी को घर में खूँटी पर, तकिये के नीचे, सन्दूक के अन्दर--सर्वत्र खोजते फिरते हैं। यह सारा खोजना किसलिए ? इसलिए कि टोपी के होने का अज्ञान, अर्थात् टोपी है इसको न जानना हमें सता रहा है। किसी ने बता दिया कि टोपी तो तुम्हारे सिर पर है, तो हम हाथ से छूकर या दर्पण में देखकर इस अज्ञान से मुक्त हो जाते हैं। और ऐसा भी होता है कि टोपी के सिर पर होने की शाब्दिक जानकारी

मिलते ही हमें सिर पर टोपी का भार महसूस होने लगता है। यह भार तो पहले भी था, पर अज्ञान ने उसके अस्तित्व के इस भार को **मानो** दबा दिया था। अज्ञान के दूर होते ही उसके अस्तित्व का यह भार फिर से **मानो** अपने-आप प्रकट हो जाता है। टोपी के अस्तित्व का भार सिर पर हरदम है--अज्ञान की दशा में भी है, पर उस समय **मालूम नहीं कैसे** वह दब जाता है। पहले से विद्यमान इस अस्तित्व के भार का अनुभव करना ही ज्ञान है।

ठीक इसी प्रकार आत्मा है तो नित्यमुक्त, पर मालूम नहीं कैसे उसकी इस नित्यमुक्तता का अज्ञान हो जाता है। इसी अज्ञान को बन्धन कहते हैं। इस अज्ञान को हटाने का उपक्रम ही साधना कहलाता है। इस अज्ञान की सत्ता है भी और नहीं भी है। है, इसलिए आत्मा की नित्यमुक्तता जाने कैसे **मानो** दब जाती है। नहीं है, तभी तो वह अज्ञान दूर भी हो जाता है। जैसे, 'टोपी है' यह ज्ञान 'टोपी नहीं है' इस अज्ञान को दूर कर देता है, वैसे ही 'आत्मा नित्यमुक्त है' यह ज्ञान 'आत्मा बन्धन में है' इस अज्ञान को दूर कर देता है। इस ज्ञान को पाने के लिय, अर्थात् दूसरे शब्दों में, बन्धन को नष्ट करने के लिए साधना की आवश्यकता होती है।

यदि पूछें कि यह साधना क्या है, तो उसका उत्तर ऐसा है। जैसे टोपी खोजनेवाले को किसी ने बता दिया कि टोपी तुम्हारे ही सिर पर है। फिर उसने हाथ से छूकर देखा, या दर्पण में देखा, या टोपी के पहले से ही विद्यमान भार का अनुभव करके देखा। इसी प्रकार, शास्त्रग्रन्थ या अनुभवी महापुरुष बता देते हैं कि आत्मा तो नित्यमुक्त है। पर इतने से प्रतीति नहीं होती। उसे या तो छूकर, या दर्पण में, या उसके अस्तित्व के भार का अनुभव करके प्रत्यक्ष करना होता है। यही साधना है। छूकर अज्ञान को दूर करने का प्रयास करना मानो कर्मयोग का रास्ता है, दर्पण में देखकर अज्ञान को हटाना भक्तियोग का और अस्तित्व के भार का अनुभव करके उसको जानना ज्ञानयोग का मार्ग है।

❖

रामकृष्ण मिशन समाचार

रामकृष्ण मिशन, नई दिल्ली

अप्रैल १९७१ से मार्च १९७२ की रिपोर्ट

दिल्ली-स्थित यह केन्द्र मई १९२७ में प्रारम्भ हुआ और १६ अक्तूबर, १९३५ को पंचकुइयाँ-स्थित अपनी भूमि पर आ गया। वर्तमान में उसकी गतिविधियाँ निम्नलिखित हैं:—

धार्मिक कार्य— प्रत्येक रविवार को धार्मिक प्रवचन के माध्यम से श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के जीवनदायी आदर्शों की चर्चा की जाती है और हर शनिवार को 'रामचरित-मानस' पर प्रवचन होता है। प्रत्येक एकादशी को राम-नाम-संकीर्तन होता है तथा महापुरुषों की जयन्तियाँ सोत्साह मनायी जाती हैं। मन्दिर में नित्य पूजा, प्रार्थना, भजन और ध्यान की सुविधा उपलब्ध है।

निःशुल्क टी. बी. क्लीनिक— यह क्लीनिक १९३३ में प्रारम्भ होकर आर्य समाज रोड, करोलबाग-स्थित अपनी भूमि पर १९४८ में आ गया। दिल्ली में इस क्षेत्र में कार्य करनेवाली केवल यही एक गैर-सरकारी संस्था है। इसमें २८ शय्या हैं तथा उपचार के सभी आधुनिक साधन उपलब्ध हैं। आलोच्य वर्ष में आउटडोर में रोगियों की संख्या २,४९३ थी, जिनमें १,६७२ रोगी नये थे। वैसे पिछले वर्षों से इलाज कराते चले आ रहे १,१४,२५७ रोगियों का भी उपचार इस वर्ष चलता रहा। इसके अतिरिक्त, २२५ इनडोर रोगियों की भी शुश्रूषा की गयी।

धर्मार्थ होमियोपैथिक औषधालय— यह आश्रम के अहाते में ही स्थित है, जहाँ इस वर्ष ७७,१४९ रोगियों का इलाज किया गया, जिनमें ६,९६२ रोगी नये थे।

निःशुल्क ग्रन्थालय और वाचनालय— ग्रन्थालय में ग्रन्थों की संख्या २५,३३६ थी। १७,९५४ पुस्तकें आलोच्य वर्ष में निर्गमित हुईं। वाचनालय में आनेवाले पत्र-पत्रिकाओं की संख्या १३६ थी।

इसके साथ ही एक 'विश्वविद्यालय छात्र-विभाग ग्रन्थालय' भी जुड़ा हुआ है, जिसमें ३,५०८ पाठ्य-पुस्तकें हैं।

सारदा मन्दिर-- ६ से १४ वर्ष के बीच बच्चों को धार्मिक और नैतिक शिक्षा देने हेतु यह एक रविवासरीय विद्यालय है। इसका संचालन सारदा महिला समिति के द्वारा होता है। औसतन ४० बच्चों की उपस्थिति रहती है।

सारदा महिला समिति—बच्चों और विशेषकर महिलाओं के बीच शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्रों में सेवा करने हेतु इस समिति का गठन हुआ है। यह समिति विभिन्न प्रकार से अभावों से पीड़ित महिलाओं और बच्चों की सेवा में रत है।

सांस्कृतिक और प्रचार-कार्य-- मिशन के सुवृहत् और सुसज्जित सभाभवन में विभिन्न प्रकार के धार्मिक और सांस्कृतिक कार्य समायोजित होते रहते हैं।

रामकृष्ण मिशन सेवा-प्रतिष्ठान, कलकत्ता

अप्रैल १९६९ से मार्च १९७० की रिपोर्ट

यह रुग्णालय सन् १९३२ में प्रारम्भ होकर ९९ शरत बोस रोड, कलकत्ता–२६ में अपने विशाल भवन में स्थित है। यहाँ ४२५ शय्या हैं तथा औषधोपचार, शल्योपचार, बालरोगचिकित्सा, विद्युत्-उपचार, स्त्री-रोग-चिकित्सा, प्रसूति-शुश्रूषा, नेत्र-चिकित्सा, नाक-कान-गला-चिकित्सा, अस्थिरोगचिकित्सा, दन्तचिकित्सा, चर्मरोग-चिकित्सा, आदि सभी प्रकार के रोगों की चिकित्सा के लिए समस्त आधुनिक साधन एवं विशेषज्ञ चिकित्सक उपलब्ध हैं।

आलोच्य वर्ष में १३,८३२ रोगियों और ६,१४९ प्रसूतिकाओं की शुश्रूषा की गयी। इनमें १,६५६ रोगियों पर अस्त्रोपचार किया गया। यहाँ ५०% रोगियों की शुश्रूषा निःशुल्क की जाती है।

इसी से संलग्न धर्मार्थ औषधालय में ९५,६८१ रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा की गयी, जिनमे ४१,२८० रोगी नये थे।